ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति

विजय शङ्कर शुक्ल

ऋग्वेद के मंत्रों में उपमान, रूपक के माध्यम से अथवा स्पष्टत: जिस सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना का प्रतिबिम्ब है एवं उस काल के सामाजिक परिवेश में वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानसिक उन्नति का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया जाता था तथा पारिवारिक संघटना किस प्रकार थी जैसे विषयों के साथ ही साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे विषयों पर अनुसंधान किया गया है जो ऋग्वेदकालीन शिक्षण पद्धति, स्त्री जनों के अधिकार एवं नैतिक गुणों की अवधारणाओं को स्पष्ट करतें हैं। सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत नैतिकता सम्बन्धी अवधारणाओं पर भी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गई है। अनेक सन्दर्भों के आधार पर परिधानों, कलाओं की स्थिति, तत्कालीन प्रशासनिक तन्त्र, वस्तुओं के उत्पादन एवं विनिमय की प्रक्रिया के साथ सुरक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के अन्तिम दो अध्यायों में ऋग्वेदकालीन धार्मिक आचारों, कर्म एवं पुनर्जन्म, पितरों की सत्ता, शुद्ध एवं अशुद्ध कृत्य, शुभ एवं अशुभ आदि की प्राथमिक मान्यताओं का मन्त्रों के आधार पर विश्लेषण किया गया है। इतस्तत: विकीर्ण सामग्री का पारम्परिक भाष्यकारों तथा पाश्चात्य विद्वानों के अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह ग्रन्थ प्रस्तुत है।

रु 300/=

ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति

विजय शङ्कर शुक्ल
इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र
नई दिल्ली

शारदा पब्लिशिंग् हाउस
दिल्ली - ११००३५
२००१

ṚGVEDAKĀLĪN SAMĀJ AUR SAṀSKṚTI

DR. VIJAY SHANKAR SHUKLA
INDIRA GANDHI NATIONAL CENTRE FOR THE ARTS,
NEW DELHI

Sharada Publishing House
Delhi-110 035
2001

समर्पण

पूज्य पिताजी स्व॰ डॉ॰ सिद्धनाथ शुक्ल
की पुण्य स्मृति में

विषयानुक्रमणिका

* * *

किञ्चिद् निवेदनम्

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का उद्देश्य ऋग्वेद में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर उस काल की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का अन्वीक्षण करना है । भारतीय दृष्टि में सब कुछ वेद से सिद्ध होता है- 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'। वेद किसी एक देश, काल अथवा व्यक्ति का नहीं है । यह सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वभौमिक है। भारतीय मनीषा का उत्स है । समग्र ज्ञान विज्ञान है। ऋचायें क्रान्तिप्रज्ञ ऋषियों की अनवरत् अबाधित स्फुरित अनुभूतियाँ हैं जिनके माध्यम से उस काल के सांस्कृतिक परिवेश के बारे में आकलन किया जा सकता है । इन्हीं साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत कृति मे सामजिक तत्त्वों से सम्बन्धित विषयों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है । ऋग्वैदिक अध्ययन के कई पक्ष हैं । मन्त्रों के अर्थानुसन्धान के लिये प्रयुक्त प्राच्य और पाश्चात्य पद्धति में किसी को हेय अथवा ग्राह्य मानना उचित नहीं कहा जा सकता है । दोनों का अपना-अपना महत्त्व है । पाश्चात्य परम्परा के मूल में भारतीय पद्धति ही कार्य करती है । उसके ग्रहण के बिना पाश्चात्य व्याख्याकारों की गति शिथिल होती है । इसलिये स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुरूप दोनों पद्धतियों को महत्त्व दिया गया है । इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मैने प्रयत्न किया है कि मन्त्रों के माध्यम से ऋग्वेदकालीन समाज में प्रचलित लौकिक तत्त्वों को आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ ।

वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में मेरा प्रवेश प्रात: स्मरणीय पूज्य पिताजी डॉ सिद्धनाथ शुक्ल के सान्निध्य में प्रारम्भ हुआ । पिताजी वैदिक वाङ्मय के अध्येता थे और प्राच्य विद्या के प्राय: सभी क्षेत्रों में प्रविष्ट थे । उन्हीं के कारण भगवती श्रुति के प्रति नैष्ठिकी श्रद्धा का सहज उद्भव स्वाभाविक था । उनके अधूरे कार्यों को मैं पूर्ण कर सकूँ यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है ।

यह कार्य सामान्य नहीं था । मैं उन सभी विद्वानों का विशेष रूप से ऋणी हूँ जिनके ग्रन्थों से मुझे सहायता प्राप्त हुई है । प्रत्येक व्यक्ति की तरह हर पुस्तक का भी अपना-अपना भाग्य है जिसे पूर्ण करने में कोई शक्ति अवश्य कार्य करती है । मुझे स्मरण है परम श्रद्धेय प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय जी का यह वाक्य-ऐसे कार्यों की पूर्णता के लिये ऋषि बनना पड़ता है । यह वाक्य मेरे लिये प्रेरणा का उत्स है । वैदिक वाङ्मय का अध्ययन अध्यापन सभी कुछ ऋषियों की कृपा से ही सम्भव हो पाता है । प्रोफेसर उपाध्याय जी ने अपने निजी संग्रह से कई दुर्लभ ग्रन्थों को उपलब्ध कराकर

इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये सम्बल प्रदान किया है। एतदर्थ मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं उन गुरुजनों को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने इस कार्य में सदैव अभिरुचि प्रदर्शित की तथा निरन्तर प्रेरित करते रहे हैं। उनमें प्रमुख हैं- गुरुवर्य्य डॉ॰ गयाचरण त्रिपाठी, प्राचार्य, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, मेरे शोध निर्देशक प्रोफेसर हरिशंकर त्रिपाठी, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, गुरुवर्य्य प्रोफेसर चन्द्रभूषण मिश्र, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

परम श्रद्धेय प्रोफेसर बैद्यनाथ सरस्वती, यूनेस्को प्रोफेसर इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली एवं विद्वद्धौरेय पं॰ सातकड़ि मुखोपाध्याय, समन्वायक, कलाकोश विभाग, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली के प्रति मैं अपनी विनीत प्रणति अर्पित करता हूँ। जिनकी मङ्गलमयी वाणी मुझे सर्वदा अभिषिक्त करती रही है। उनका मार्गदर्शन और स्नेह ही मेरा सम्बल है, उनकी सत्प्रेरणा ही मेरी साधना है।

अन्त में मैं आदरणीय अग्रज डॉ॰ प्रकाश पाण्डेय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद का विशेष रूप से अधमर्ण हूँ जिनकी सहायता से यह पुस्तक इस रूप में आ सकी है। मेरे सुहृद् डॉ॰ शेषनारायण शुक्ल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ने प्रूफ आदि के संशोधन में मेरी बहुत सहायता की है मैं उनके अभ्युदय तथा मंगल की कामना करता हूँ।

इसमें सन्देह नही है कि शारदा-पब्लिशिंग्-हाउस के मालिक श्री बिहारी लाल बंसल जी ने इसके प्रकाशन का भार उठाकर अपने उत्साह का परिचय दिया है। औपचारिक आभार प्रर्दशन करने से कहीं उसका मूल्य कम न हो जाय।

अन्त में मै मेसर्स नियोग्राफिक्स के संचालक श्री रमाशीष मुखोपाध्याय को सुन्दर मुद्रण के लिये विशेष धन्यवाद देता हूँ।

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

गुरुपूर्णिमा
१६ जुलाई २०००
नई दिल्ली

विनयावनत—
डॉ॰ विजयशङ्कर शुक्ल

भूमिका

यद्यपि किसी एक ग्रन्थ से किसी काल विशेष की समग्र स्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य कोई साधन न होने के कारण इस ग्रन्थ में प्रतिपादित लौकिक सामग्रियों के अन्वेषण की चेष्टा की गई है। इस चेष्टा के प्रति ऐसा दावा नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद को ही आधार मान कर कोई उस काल के सामाजिक जीवन का पूर्ण वर्णन कर सकता है।

ऋग्वेद में 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। लौकिक का अर्थ 'लोक से सम्बद्ध' अर्थात् सामाजिक। ऋग्वेद और बाद में 'संसार' का द्योतक है। प्राय: तीन लोकों का उल्लेख हुआ है और 'अयं लोक: (यह लोक) का' नित्य ही, 'असौ लोक: (दिव्य लोक)' के साथ विभेद किया गया है[१]। लोक शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में बहुधा प्रयुक्त हुआ है[२]। वैदिक साहित्य में तीन लोकों का बार-बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद ३.३७.११ में उलोक का अर्थ 'उत्तमो लोक:' किया गया है। लोककृत[३] लोककृत्नु आदि के सन्दर्भ ऋग्वेद में मिलते हैं।

ऋग्वेद में समाज से सम्बंधित सन्दर्भों में, समज्मना जनिम् मानुषाणाम् (ऋ० ६.१८.७), समज्या पर्वत्या वसूनि (ऋ० १०.६९.६) तथा समञ्जन्तु (ऋ० १०.८५.४७) इत्यादि शब्द प्राप्त होते हैं। प्राय: इनका अर्थ समूह के लिये किया गया है। कोषकार[४] ने भी इस शब्द का अर्थ समूह ही किया है। लेकिन ऋ० १०.६९.६ में इसका अर्थ आज के समाज के अर्थ में प्रतीत होता है।

अत: समाज का अर्थ हमें 'समूह' के अर्थ में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। आरम्भ का समूहवाची यह शब्द अशोक के समय में सामूहिक उत्सव का वाचक था जो लोक में एक बड़े वर्ग के द्वारा मनाया जाता था। जैसे आज का दशहरा आदि। किन्तु आज समाज शब्द वैदिक लोक शब्द के पर्याय के रूप में पूर्ण रूप से स्वीकृत हो चुका है। अत: लोक के अर्थ में अधिक प्रचलित इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

लौकिक अर्थात् सामाजिक विषयों से तात्पर्य है जनसाधारण के जीवन के विविध पहलुओं का वर्णन। इसका उद्देश्य किसी विशिष्ट वर्ग की विचारधारा की गहनता को प्रस्तुत करना नहीं है। धर्म के अतिरिक्त लोक से सम्बन्धित सामान्य आचार-विचार और प्रचलित प्रथायें सामाजिक जीवन के अन्तर्गत आती हैं।

ऋग्वेद में प्राप्त सामाजिक जीवन से सम्बंधित सन्दर्भ लौकिक विषयों से

सम्बन्धित सूक्तों पर आधारित हैं। घाटे महोदय ने लिखा है — 'लौकिक सूक्तों से हमारा अभिप्राय उन्हीं से है, जिनसे विशेष रूप से देवों को सम्बोधित न किया गया हो'[५]। अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया है। प्रो० घाटे,[६] प्रो० मैक्डॉनल और कीथ्,[७] डॉ० जे० म्यूर,[८] प्रो० रागोजिन,[९] प्रो० त्सिमर[१०] और डॉ० अविनाशचन्द्र दास[११] आदि ने अपनी अपनी पुस्तकों में वैदिक आर्यों की सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। भारत के इतिहासकारों ने भी वैदिक सभ्यता का सांस्कृतिक विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

ऋग्वेद

'ऋच्यते स्तूयतेऽनया सा ऋक्' अर्थात् जिससे स्तुति या प्रशंसा की जाय, यह ऋक् का शाब्दिक अर्थ है। इन्हीं ऋचाओं का समूह ही ऋग्वेद है। वेद का अर्थ, समग्र ज्ञान विज्ञान है। इन्हीं ऋचाओं में प्रकृति का सान्निध्य अन्तर्निहित है। मानवता का परिवेश, नैतिकता, लोक मंगल की भावनायें, इत्यादि के तत्त्व इन्हीं में समाहित हैं। ऋचायें क्रान्तिप्रज्ञ कवियों के अन्तःकरण से निर्बन्ध अबाधित स्फुरित अनुभूतियाँ हैं। अवान्तरकाल में विकीर्ण ऋचाओं को एकत्रित कर संहिता का रूप दिया गया। इसलिये ऋग्वेद को ऋग्वेद संहिता भी कहा जाता है। ऋग्वेद का उद्घोष है 'तुम जागोगे तो ऋचायें तुम्हारी कामना करेंगी। वेद तुम्हारे पास आकर अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट करेंगे।' तुम जागोगे तो यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद तुम्हारे सखा होंगे। तुम्हारा साथ देंगे। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ने जिसका साथ दिया फिर संसार में उनके लिये अप्राप्य दुर्लभ कुछ भी नहीं है।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

ऋ० ५.४४.१४

आर्य संस्कृति की कहानी मौखिक परम्परा से लिखित रूप में ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होती है। ऋग्वेद के रचनाकाल एवं स्थान के सम्बन्ध में बहुत विवाद हैं किन्तु चारों वेदों के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि चारों वेदों के प्रणयन के काल में बहुत अधिक अन्तर नहीं रहा होगा। हम वेदों को अपौरुषेय रूप में स्वीकार करें तो भी प्रस्तुत अध्ययन में कोई कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती है।

ऐतिहासिकता —

ऋग्वेद के लौकिक सूक्तों में ऐतिहासिक सामग्री निहित है। ये मुख्य रूप से पर्वतों, नदियों, प्रदेशों, राजाओं तथा ऋषियों के नामों के साथ जुड़ी हुई हैं। राजाओं

के सम्बन्ध में अम्बरीष, नहुष, मान्धाता, पुरुरवा तथा ऐल का सन्दर्भ प्राप्त होता है। प्रमुख ऐतिहासिक सामग्री के रूप में वैदिक काल का महत्त्वपूर्ण दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है । ऋषि विश्वामित्र तृत्सुओं के राजा सुदास के पुरोहित थे। बदले में विश्वामित्र ने तृत्सुओं के विरुद्ध दश विभिन्न राजाओं के संघ को युद्ध के लिये प्रेरित किया । युद्ध में वशिष्ठ ही सुदास के पुरोहित थे । यह युद्ध परुष्णी के तट पर हुआ।[१२] शत्रु सेना को विपासा और शुतुद्रि को पार करना था जिसके लिये विश्वामित्र ने स्तुति की।[१३] दोनों शत्रु सेनायें नदी के एक-एक किनारे पर थी जिसमें सुदास की सेना परुष्णी की ओर थी । इन्द्र की कृपा से राजा सुदास को दश राजाओं पर विजय प्राप्त हुई । ऋग्वेद में उल्लेख है कि सुदास ने शत्रुओं के सुदृढ़ नगरों के सातों प्रकारों को बल से तत्काल तोड़ दिया।[१४] इसी तरह राजा अभ्यावर्तिन् का सन्दर्भ भी प्राप्त होता है।[१५] साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों के युद्ध निरन्तर चलते रहे । ऐतिहासिक सन्दर्भों के आधार पर ऋग्वैदिक सभ्यता एक नागर सभ्यता थी । उस काल की इस सभ्यता में विशाल भवन, सहस्र स्थूण वाले सभागर, नियत्रिंत शासन प्रबन्ध, इत्यादि के प्रमाणों से इसे ग्राम्य सभ्यता के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यह निश्चित रूप से या तो सिन्धु सभ्यता के समकालीन थी अथवा पूर्ववर्ती जो एक स्थान की सभ्यता न होकर बल्कि सिन्धु और गंगा यमुना नदियों के मध्य फैले हुये प्रदेश के अन्तर्गत पल्लवित एवं पुष्पित हुई ।

विषय —

ऋग्वेद का मुख्य विषय देवताओं की स्तुतियाँ हैं । देवताओं के प्रति अपनी सहज उद्भूत भावनाओं को व्यक्त करते हुए ऋषियों ने उन स्तुतियों को सरल एवं सौष्ठवपूर्ण भाषा, सुन्दर अलंकारों, विविध छन्दों एवं निश्चितलयों से आबद्ध कर उन्हें सुन्दर काव्य का रूप प्रदान किया है । प्रकृति अपना नित्य नूतन रूप सजा कर उनके अन्तर्मन में समाहित होती रही और ऋषियों की मनः पूत वाणी उसे सहजता से नित्य नवीन अभिव्यक्ति प्रदान करती रही है । मनरूपी गुफाओं में समाविष्ट वाणी पवित्र होकर मंत्रों के रूप में निःसृत हुई जिसके सम्बन्ध में आङ्गिरस का कथन है —

सक्तुंमिव तितंउना पुनन्तो यत्र धीरा मनंसा वाचमक्रंत ।
अत्रा सखांयः सख्यानिं जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिं वाचि ॥

ऋ० १०.७१.२

सम्पूर्ण ऋग्वेद दश मण्डलों में वर्गीकृत है । इन मण्डलों में द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त को प्राचीनतम अंश माना जाता है। इनमें संगृहीत सूक्तों का दर्शन एक-

एक ऋषि अथवा उनकी वंश परम्परा द्वारा किया गया है। इसीलिये इन्हें वंश मण्डल का नाम भी दिया जाता है। द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त के ऋषि क्रमशः गृत्समद्, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, और वसिष्ठ हैं। अष्टम् मण्डल में काण्व, अङ्गिरस, अत्रि आदि अनेक ऋषियों द्वारा दृष्ट मंत्रों को संकलित किया गया है। नवम मण्डल के समस्त मन्त्र सोम देवता सम्बन्धी हैं जो भार्गव, प्रियमेध, गोतम, आदि ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं। इनके अतिरिक्त बालखिल्य नाम के ग्यारह सूक्त हैं जो प्रायः अष्टम मण्डल के साथ संयुक्त किये जाते हैं। ऋग्वेद के सम्पूर्ण सूक्तों की संख्या १०२८ है जिनमें खिल सूक्तों को लेकर लगभग दश हजार पाँच सौ अस्सी मंत्र एकत्रित हैं। वर्ण्य विषय के आधार पर ऋग्वेद को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है जिसमें प्रथम भाग अग्नि सम्बन्धी मन्त्रों और द्वितीय भाग इन्द्र सम्बन्धी मन्त्रों का है। तृतीय भाग में वरुण, विष्णु, मरुत्, रुद्र, सूर्य, सवितृ एवं विश्वेदेवाः आदि से सम्बंधित मन्त्र आते हैं।

देवताओं के स्तुतियों के अतिरिक्त ऐसे भी मन्त्र हैं जो लौकिक विषयों से सम्बंधित हैं। ऐसे विषयों से सम्बन्धित सूक्तों की संख्या बहुत कम है फिर भी ऋग्वेदकालीन समाज को समझने के लिये उनकी भूमिका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमें कुछ तो संवादसूक्त हैं तथा कुछ अन्य विषयों से सम्बन्धित हैं। संवादसूक्तों में ऋग्वेद १०.१० यम-यमी संवाद और ऋ० १०.९५ पुरुरवस्-उर्वशी संवाद बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम में उस काल की नैतिक विचार धारा का और दूसरे में प्रेम की उदात्तता का परिचय मिलता है। एक अन्य संवाद सूक्त वागाम्भृणी सूक्त के नाम से विख्यात है जिसमें वाग्देवी स्वयं कहती हैं कि वह समस्त सृष्टि की विधात्री एवं पोषणकर्त्री हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ दान स्तुतियाँ है जिनमें उदारता पूर्ण व्यवहार की प्रशंसा और अकेले ही सब कुछ ग्रहण करने की निन्दा की गयी है। एक मंत्र में कहा गया है कि जो अपने मित्र को कुछ नही देता वह 'सखा' नहीं है—

'न स सखा यो न ददाति सख्ये' (ऋ० १०.११७.४)

और दूसरे मंत्र का यह कथन कि अकेले खाने वाला केवल पाप खाता है —
'केवलाघो भवति केवलादी' **(ऋ० १०.११७.६)**

महत्त्वपूर्ण हैं। धर्म के सम्बन्ध में दो विचारधारायें है। एक के अनुसार यज्ञ के विविध-विधि विधानों के माध्यम से धर्म का उद्भव और विकास हुआ है और दूसरी विचार धारा के अनुसार प्राकृतिक शक्तियों के भय से उत्पन्न विचारों के माध्यम से,

किन्तु ये दोनों विचार असंगत हैं। ऋग्वैदिक काल के आर्यों का धर्म प्राकृतिक शक्तियों के नियमित सञ्चालन से उत्पन्न सत्य पर आधारित और उन्हीं नियमों को जीवन के विभिन्न रूपों में संलग्न करने के साथ उद्भूत है। ऋग्वैदिक ऋषियों की दृष्टि में समस्त देवता एक ही परम सत्य के अनेक रूप हैं। एक परम सत्य का दर्शन समस्त प्राणियों में करने के कारण ही उस काल का धर्म स्वस्थ परम्परा और आनन्दपूर्ण विचारों पर आधारित था। धार्मिक संकीर्णताओं से दूर रहकर ऋषियों ने समस्त जगत् के कल्याण की कामना की। न तो सन्यास और न तपस्, न नैराश्य और न दर्शन ही उन्हें चिन्तित कर सके, चिन्ता थी केवल विश्व-कल्याण की। उन्होंने मधुमय जीवन की कामना समस्त प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से की है। उन्हीं के शब्दों में —

मधुवाताँ ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

(ऋ० १.९०.६; ७; ८)

समस्त प्राणियों में सौमनस्य और एकता की जो कामना ऋग्वैदिक ऋषियों ने की वह वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यदि हम समस्त जगत् को एक साथ लेकर नहीं चल सकते तो कम से कम अपने राष्ट्रीय जीवन में सौमनस्य एवं एकता की कामना तो कर ही सकते हैं।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋ०. १०.१९१.२)

के उद्घोष के साथ ऋग्वेद पूर्ण होता है।

सन्दर्भ

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग - २, पृष्ठ २५९
२. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृष्ठ ४५२, वाराणसी १९६३
३. ए० प्रे० वै० डि०, पृष्ठ ५६९
४. ए० प्रै० वै० डि०, पृष्ठ ६७९
५. घाटे, घाटेज् लेक्चर्स आन् ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ९८
६. घाटे, घाटेज् लेक्चर्स आन् ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद)

७. ए० ए० मैक्डॉनल और ए०बी० कीथ, वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सबजेक्ट्स, दो भाग, (हिन्दी अनुवाद) रामकुमार राय, वाराणसी १९६२
८. डॉ० जे म्यूर, ओरिजनल संस्कृत टैक्ट्स, ५ भाग, एडिनबर्ग १८६८
९. रागोजिन, वैदिक इण्डिया, लण्डन, १९१५
१०. हाइनरिख् त्सिमर, आल्ट् इण्डिशेस लेबन, बर्लिन, १८७९
११. अबिनाश चन्द्र दास, ऋग्वैदिक कल्चर, कलकता, १९२५
१२. ऋ० ७.१८.९
१३. ऋ० ३.३३.९ एवं १०
१४. ऋ० ७.१८.१३
१५. ऋ० ६.२७.४ से ८

प्रथम अध्याय

ऋग्वेदकालीन समाज : उद्भव और विकास

विश्व के प्राचीनतम साहित्य में ऋग्वेद का नाम सर्वप्रथम है । भारतीय साहित्य, धर्म और संस्कृति के उद्भव तथा विकास की गाथा ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होती है । ऋग्वेद नाम इसके ऋचाओं से सम्बन्धित होने के कारण पड़ा। विश्व वाङ्मय के अन्तर्गत ऋग्वेद की प्राचीनता एवं उसके विकसित साहित्यिक स्वरूप, धर्म दर्शन आदि पर किसी को सन्देह नहीं है । साथ ही इस बात पर भी कोई आशंका नहीं व्यक्त कर सकता कि आर्यों के उल्लिखित इतिहास का सूत्रपात ऋग्वेद से ही होता है । समकालीन भारत के आर्य सम्पूर्ण उत्तरापथ पर नहीं छाये थे । अभी वे सिन्धु के तटीय क्षेत्र में ही निवास करते[1] थे । पुरातत्त्व सम्बंधी उत्खननों के आधार पर ऋग्वैदिक संस्कृति की प्राचीनता का अनुमान अनेक विद्वानों ने लगाया है । सन् १९०७ में एशिया माइनर के 'बोगजकोई' में उत्खनन से प्राप्त कुछ मृत्तिका मुद्राओं पर १४०० ईसा पूर्व हित्ती के राजा सुब्बीलुलिउमा और मितानी राजा मत्तिउर्ज के मध्य हुई सन्धि का उल्लेख है, जिसके अन्तर्गत देवताओं का नाम साक्षीरूप में उल्लिखित है, जिनमें मित्र वरूण, इन्द्र और नासत्यौ का नाम भी मिलता[2] है । इसी आधार पर याकोबी ने वैदिक संस्कृति की प्राचीनता और उसका मितानी संस्कृति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है । इस विचार को हिलेब्राण्ट, स्टेनकोनोव और विन्टरनित्स ने भी स्वीकार किया है। इसी आधार पर विन्टरनित्स का यह कथन है कि जिस प्रकार आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़े उसी प्रकार भारत से वे लोग पश्चिम की ओर भी गये[3] ।

सिन्धु घाटी के उत्खनन के आधार पर भी ऋग्वैदिक संस्कृति की प्राचीनता का अनुमान लगाया गया । कार्बन - १४ के आधार पर तिथि निश्चित करते हुये कुछ विद्वानों ने मोहनजोदड़ो की सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता में साम्य स्थापित करते हुये कहा है कि यह सभ्यता ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में पल्लवित हुई किन्तु के० एन० शास्त्री के अनुसार सिन्धु सभ्यता का साम्य मध्यकालीन वैदिक संस्कृति जो अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में प्राप्य है, के साथ स्थापित किया जा सकता है[4] ।

प्रो० ए० वी० आर्नोल्ड ने अपनी पुस्तक The Rigveda के प्राक्कथन का प्रारम्भ इस कथन से किया है — The Rig Veda is not a book, but rather a library and a literature, the collected remains of the work of

many centuries.[5] जिस तरह एक साहित्य का विकास एक दिन में नहीं हो सकता उसी तरह से ऋग्वैदिक संस्कृति के उद्भव और विकास में सहस्रों वर्षों का समयान्तराल है। उसके लिए एक निश्चित समय लिख पाना, प्रहेलिका बूझने के समान है । फिर ऋग्वेद कोई भौगोलिक पैमाना नहीं है जिससे उस काल की सही स्थिति का पता लग सके। लेकिन नदियों, पर्वतों, देश, ग्राम, जाति एवं राज्य के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं ।

ऋग्वेद में पर्वतों के नामों में हिमालय का उल्लेख हुआ है[६] ।अवेस्ता और वैदिक संस्कृत की तुलना से हम जानते है कि पूर्वी शाखा, पश्चिमी शाखा से अलग हो जाने पर अर्थात् ईरानी और भारतीय अपने को आर्य कहते हुये, बहुत समय तक साथ रहे[७]। सप्तम मण्डल के एक मंत्र में कहा गया है[८] कि शत्रुओं ने परुष्णी नदी को खोदते हुये उसके तटों को गिरा दिया था । दशम मण्डल में[९] सिन्धु को नदियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है । उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि[१०] जैसे शिशु के पास माता जाती है और दुग्धवती गायें बछड़े के पास जाती हैं वैसे ही शब्द करती हुई अन्य नदियाँ सिन्धु के पास जाती हैं ।

इसी सन्दर्भ में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाब) के साथ मरुद्वृधा आदि नदियों का भी नाम[११] है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि नदियों में गंगा का नाम केवल एक बार आया है जबकि सिन्धु के ऊपर एक सम्पूर्ण सूक्त कहा गया है । इन नदियों में परुष्णी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है ।इसके तट पर वैदिक काल का महत्त्वपूर्ण दाशराज्ञ युद्ध हुआ था[१२]। ऋग्वेद में किसी भी मंत्र में चीता का उल्लेख नहीं आया है, इससे अनुमान किया जाता है कि आर्य यमुना तक ही सीमित थे क्योंकि यदि वे बंगाल के वनों को पार करते तो निश्चय ही इनका उद्धरण मिलता[१३] ।

दक्षिण में आर्यवासियों को विन्ध्य पर्वत श्रेणियों का ज्ञान नहीं था न वे नर्मदा नदी के विषय में जानते थे । तात्पर्य यह है कि आर्य संस्कृति मुख्य रूप से अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध का प्रदेश, राजस्थान, काश्मीर, तथा पूर्वी भारत में गंगा तक फैली हुई थी । इसके उद्भव तथा विकास का प्रारम्भिक बिन्दु हमें यहीं प्राप्त हो सकता है तथा इसके विकास की परम्परा का प्रारम्भ भी संभव है यहीं कहीं छिपा हो । लेकिन इन्हीं सन्दर्भों में ऋग्वेद में कहा गया है कि आर्य चारों दिशाओं के चारों समुद्रों में व्यापार करते थे[१४] ।

मनु संहिता के व्याख्याकार कुलुक भट्ट ने आर्यावर्त शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है कि जहाँ पर आर्य पुनः पुनः पैदा हुए वह धरती आर्यावर्त है[१५]। शतपथ ब्राह्मण

में इला नामक स्थान के विषय में सन्दर्भ आया है कि सृष्टि के विलय के समय मनु अपनी नौका को दक्षिणी समुद्र के किनारे से उत्तर की ओर ले गये, तात्पर्य यह है कि उन्होंने हिमालय का आश्रय लिया। यहाँ पर उन्होंने एक इला नामक सुन्दर कन्या का दर्शन किया। इला ने स्वयं को मनु की पुत्री कहा है। बहुत संभावना है कि ऋग्वेद में भी जिस इला नामक स्थान की अवधारणा है वह शतपथ ब्राह्मण के इस आख्यान से साम्य रखता हो[१६]। सरस्वती, दृशद्वती नदियों का पानी हिमालय तक फैले हुये सिन्धु के मैदान में फैलता था। मनु ने जिस पर्वत की चोटी का आश्रय लिया था वह 'इला' के क्षेत्र में आता है जिसे काश्मीर में इङ्गित किया गया है[१७]।

It was the interesting to note here that Adelung the father of comparative philology who died in 1806 placed the cradle of mankind in the valley of Kashmir was the cradle or paradise of mankind or not. It can be confidently asserted that this beautiful mountainous country and the plains of Sapta-sindhu were the cradle of Aryan race"[१८].

आर्यों के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये डाँ० सम्पूर्णानन्द ने लिखा है कि — सप्त सिन्धु प्रदेश के उत्तर, दक्षिण और पूर्व समुद्र था[१९] यह वह भूभाग है जहाँ आज काश्मीर की उपत्यका, राजपूताना और उत्तर प्रदेश स्थित हैं। भूगर्भ-शास्त्र वेत्ताओं का कहना है कि यह अवस्था आज से लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर पचास हजार वर्ष पूर्व की है। उसे टेशरी युग कहते हैं। उन दिनों हिमालय समुद्र में से ऊपर उठ रहा था। पर्वत चञ्चल थे। पृथिवी में बराबर कम्पन आते रहते थे। आर्यों ने इस अस्थिरता को अपनी आँखों से देखा था। इन्द्र की स्तुति करते हुये बारम्बार यह कहा गया है कि उन्होंने काँपते हुए पर्वतों को सुदृढ़ किया और हिलती हुई पृथिवी को स्थिर किया[२०]।

अनेक सिद्धान्तों तथा विद्वानों के विचारों के अध्ययन के अनन्तर यही कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक संस्कृति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व था जो अपनी संस्कृति के लिए आज भी भारतीय समाज में प्रतिष्ठित है। संभवतः सिन्धु क्षेत्र में पल्लवित यह संस्कृति जिस गति से पूर्व की ओर प्रसृति हुई उसी गति से पश्चिम की ओर भी इसका विकास होता गया। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में देवों की उत्पत्ति की चर्चा है। अथर्ववेद[२१] में इनकी उत्पत्ति असत् से बतायी गयी है। ऋग्वेद में उषा[२२] को देवताओं की जननी कहा गया है।

मानव उद्गम के विषय में वैदिक विचार निश्चित रूपरेखा नहीं प्रस्तुत कर पाते फिर भी मानव जाति का उद्गम सामान्यतः एक आदिम पुरुष से माना गया है। यह

आदिम पुरुष विवस्वत्पुत्र मनु हैं जिन्होंने सबसे पहले यज्ञ किया था[२२]। ये मनुओं के पिता कहे गये[२४] हैं अथवा विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत यम जिसने अपनी जुड़वा बहन यमी के साथ मानव जाति को प्रवर्तित किया था। यदि मानव का उद्गम इस प्रथम पुरुष से भी पहले माना जाय तो मानव सभ्यता का उद्गम भी किसी दिव्य सत्ता से ही मानना पड़ेगा। ऋग्वेद[२५] में अग्नि को मानव को उत्पन्न करने वाला बताया गया है। अङ्गिरसों को जो परवर्ती काल के पुरोहितों के पूर्वज हैं अग्नि का पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद में ऐसे भी अनेक मानव परिवारों की अवधारणा है जो अत्रि, कण्व आदि के[२६] माध्यम से स्वतन्त्र रूप से देवताओं से उत्पन्न हुये हैं। वसिष्ठ[२७] के विषय में कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति अनोखे ढंग से मित्र और वरुण से हुई थी और उर्वशी उनकी माता थी।

सामाजिक संरचना एवं सामाजिक विभाजन

वर्ण शब्द संस्कृत वाङ्मय का एक विशिष्ट शब्द है। संस्कृत साहित्य में यह ऋग्वेद काल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है[२८]। लेकिन यह बताना कठिन है कि वैदिक लोग इसका विभेद किस प्रकार करते थे। ऋग्वेद में लाल और पीले रंगों का विभेद कई बार आया है। काले को कृष्ण और सफेद को श्वेत कहा गया है[२९]। ऋग्वेद में वर्ण[३०] शब्द जाति का वाचक भी है। प्रारम्भ में दासों एवं आर्यों के वर्ण का उल्लेख आया है[३१]। ऋ० में प्रायः दो ही वर्णों का उल्लेख आता है किन्तु परवर्ती साहित्य में चारों वर्णों का पूर्णतः विकास हुआ है[३२]। वर्ण शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद काल में वर्णों के अस्तित्त्व या अनस्तित्त्व का निरूपण करना कठिन है किन्तु पुरुष सूक्त[३३], वाजसनेयि संहिता[३४] एवं तै० आ०[३५] में चार वर्णों का उल्लेख आता है। यास्क ने वर्ण शब्द को 'वर्णो वृणोतेः'[३६] कहा है। यहाँ पर वर्ण शब्द के आधार पर ऋग्वेद कालीन सामाजिक वर्ण व्यवस्था का निरूपण करना कठिन है किन्तु पुरुष सूक्त के आधार पर हम सामाजिक विभाजन की रूप रेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। ऋग्वेदकालीन समाज का स्वरूप हमें मुख्यतः प्रथम एवं दशम मण्डल में ही दृष्टिगत होता है। पाश्चात्य एवं भारतीय मनीषियों की अवधारणा रही है कि कार्य के आधार पर विभाजन था और उनके कर्म के आधार पर जाति का नामकरण किया जाता था। पुरुष सूक्त का प्रसिद्ध मन्त्र वर्ण विभाजन इस प्रकार करता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[३७]

इस मन्त्र का अर्थ विचारणीय है — पुरुष सूक्त के इसी मन्त्र पर भाष्यकार

सायणाचार्य लिखते हैं — ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखाद् उत्पन्नः इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिजातिमान् पुरुषः सः बाहूकृतः बाहुत्वेन निष्पादितः । बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत् इदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ उरु तद्रूपः वैश्य सम्पनः । उरुभ्यामुत्पन्नः इत्यर्थः तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत'' ।

इसका आधार मन्त्र का अन्तिम चरण है जिसका अर्थ भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रकार किया है —

सायण — ''पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान पुरुषः अजायत[३८] ।

महीधर —तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायत उत्पन्नः''[३९] ।

उबट — ये शूद्रा ते पद्भ्या अजायन्त इति कल्प्यन्ते तदस्योत्पन्नत्वादिति[४०]

विल्सन[४१] —The Sudra was born from his feet.

म्यूर[४२] — The Sudra sprang from his feet.

ग्रिफिथ[४३] —From his feet the Sudra was produced.

मैक्डॉनल[४४]— From his foot the Sudra was born.

पीटर्सन[४५] —The Pariah was born from his feet.

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—पाँव के लिए शूद्र उत्पन्न हुआ है[४६] । डॉ० सुधीर कुमार गुप्त की दृष्टि में अजायत का भाव उच्यते है । अतः यहाँ पञ्चमी नहीं माना जा सकता है[४७] ।

उपरोक्त उल्लिखित विद्वानों की व्याख्याओं में पद्भ्यां एवं अजायत पदों के अर्थों में मत वैभिन्य है । आचार्य सायण के अनुयायी विद्वान पञ्चमी का अर्थ स्वीकार करते हैं । यदि हम कर्मणा वर्ण का आश्रय लें तो चतुर्थी भावित अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होगा क्योंकि वर्ण का विभाजन कर्म के आधार पर तर्क सङ्गत है ।

ऋ० २.१२.४ में दास वर्ण से उन समस्त मानवों और असुरों का कथन है जो कि आर्य विरोधी अथवा देवताओं के विरोधी थे । जैसा कि सायण ने शूद्रादि के रूप में माना है । वर्ण यहाँ जाति का बोधक प्रतीत होता है । वैदिक साहित्य में शूद्र शब्द हीन अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ है । इस वर्ण की महत्ता का प्रमाण यही है कि वैदिक साहित्य में जहाँ अन्य जातियों का उद्धरण आया है वहाँ इसे अछूता नहीं छोड़ा गया है ।

'ऊरुतदस्य यद् वैश्यः' —वैश्य को विराट पुरुष का उरु भाग कहा गया है । ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु और शूद्र को चरण। इन तीनों अंगों को समझने में कदाचित् श्रम नहीं करना पड़ता लेकिन इस भाग को निर्देशित करने में मत वैभिन्न

है। इसको समझने के लिए अथर्ववेदीय पुरुष सूक्त का सहारा लेना पड़ता है। जहाँ उरु के स्थान पर मध्यम पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है लेकिन इससे एक नवीन पद उठता है कि शरीर का 'मध्यभाग' कौन सा है। यहाँ इतना ही कहना तर्क संगत है कि मध्यभाग की उरु संज्ञा होगी। वैश्य जिस प्रकार से शरीर का मध्यभाग है उसी तरह से वह समाज का भी मध्य भाग है। वैश्य समाज पुरुष के अर्थ और काम का केन्द्र है।

बाहूराजन्यः कृतः —सभी व्याख्याकार इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में एक मत हैं। क्षत्रिय वर्ण की सार्थकता क्षत्रत्राण से है और क्षत्र गण की सार्थकता बाहु से है इसलिए कहा है —

१. तस्माद् उ बाहु वीर्यो (राजन्यः) बाहुभ्यां हि सृष्टः[४८]
२. वीर्य वा एतद् राजन्यस्य यद् बाहू[४९]

बाहुओं को क्षत्रिय का वीर्य, बल और पराक्रम कहा गया है। वेद में एक प्रसिद्ध त्रिक का वर्णन करते हुये मस्तिष्क, बाहु और हाथों को पृथक्-पृथक् गिना गया है।

देवस्यं त्वा सवितुः प्रंसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो-हस्तांभ्याम्[५०]।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् —विराट पुरुष का मुख ब्राह्मण है। मुख और ब्रह्मण शब्द एक दूसरे के पूरक हैं। भाष्यकार उव्वट के अनुसार 'अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य, ये केचिद् ब्राह्मणाः ते मुखम् आसीत्[५१] तथा शतपथ-ब्राह्मण,[५२] तैत्तिरीय संहिता[५३] एवं काठकसंहिता[५४] से भी उपर्युक्त सन्दर्भ की पुष्टि होती है। ब्राह्मण शब्द के पर्यायवाची के रूप में विप्र शब्द मिलता है जिसका अर्थ गायक आदि किया जाता है[५५]। ऋ० २.१२.६ में प्रयुक्त 'ब्रह्मण' शब्द का भी यही अर्थ है।

यान् खोंदा के अनुसार आर्य समाज तीन भागों में विभाजित था[५६]।

ऋ० २.१२.५ में आर्यों के जो शत्रु थे उनको दास वर्ण (दास के रंग वाला) कहा गया है। आर्यम् वर्णम् (ऋ० २.३४.९) का प्रयोग आर्यों के लिए हुआ है। ऋ० १.१२.८ में अन्त्योदात्त दास का अर्थ इस अर्थ से भिन्न होकर 'सेवक' अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त[५७] है।

भाष्यकार सायण के अनुसार 'चत्वारि वाक् परिमितापदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः[५८] मन्त्रांश में ब्राह्मणाः का अर्थ ब्राह्मणाः वेद विदुः किया है। इसी मन्त्र के मन्त्रार्थ में ब्राह्मण के दो अन्य अर्थों का उल्लेख किया गया है।

'शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः अर्थात् शब्द ब्रह्म का ज्ञान रखने वाले योगी को ब्राह्मण कहते है। सायणाचार्य कृत इन तीनों अर्थों से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति ब्रह्म, वेद एवं वेदाङ्ग का ज्ञाता हो वही ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मण शब्द 'तदधीते तद्वेद'[५९] के अनुसार ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय करने पर बनता है। यहाँ ब्रह्मन् का अर्थ वेद और मन्त्र है।[६०] ब्रह्मन् शब्द ऋ० मे विरल है। ब्राह्मण शब्द का अर्थ प्रारम्भ से ही कवि है लेकिन कुछ स्थलों पर यह पुरोहित कर्म का भी संङ्केत करता है।[६१] अन्यत्र यह ज्ञानी के अर्थ में आया है।[६२]

ऋग्वेद में इन चारों वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ण की चर्चा है[६३]। इसे कहीं तो पञ्चक्षितीनाम् एवं कही पञ्चजन के रूप में इङ्गित किया गया है। कोषकार[३७] ने इसकी व्याख्या 'पञ्चजनेषु भवः तेभ्यो हितो वा' अर्थात् पञ्चजनों के लिए किया है। ऋ०'१.८९.१० में भी पञ्चजन का तात्पर्य पाँच वर्णों से है। पाँचवी जाति के रूप में जहाँ निषाद अर्थ किया गया है[३८]। भाष्यकार सायण ने इसकी व्याख्या **'एवं विधाः पञ्चजना अपि अदितिः एव'** कहकर किया है[३९]। यद्यपि इसके सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद है। यास्क के अनुसार गन्धर्व, पितृगण, देव, असुर एवं राक्षस पञ्चजन हैं। ऋ० में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरू जातियों के नाम पञ्चजन हैं।

यदिंन्द्राग्नी यदुंषु तुर्वशेंषु यद् द्रुह्युष्वनुंषु पूरुषु स्थः। ऋ० १.१०८.८

पञ्चजनाः, पञ्चकृष्टीः जैसे प्रयोग समस्त भारतीय जातियों के बोधक है। निष्कर्ष यही है कि प्रारम्भ में आर्यों में वर्ण विभाजन नहीं था। आवश्यकता और रुचि के अनुसार आर्य जन पुरोहित, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी या कृषि आदि का कार्य कर जीवकोपार्जन करते थे। उस समय जन्म से व्यवसाय नहीं निर्धारित किये जाते थे[६७]। परन्तु कालान्तर में जब जीवन में जटिलता और जीविकोपार्जन में कठिनाई होने लगी तब समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया। एक वर्ण को अध्ययन, अध्यापन, एव पौरोहित्य कर्म का भार सौंपा गया। यह अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य था[६८]। सामाजिक सामञ्जस्य का उत्तरदायित्व इसी वर्ण पर था। दूसरे वर्ण को रक्षा का भार सौंपा गया। यह क्षत्रिय कहलाया। तीसरे वर्ग को समाज की समृद्धि बढ़ाने का काम सौंपा गया जो कि वैश्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विश् शब्द पहले समग्र समाज का बोधक शब्द था कालान्तर में यह केवल वैश्य वर्ण का बोधक रह गया।

बचे हुये आर्य शूद्र कहे गये तथा उन्होंने समाज की सेवा का भार स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त स्वभाव के आर्य जनों को निषाद वर्ग में रखा गया[६९]। यद्यपि अनार्य मिश्रण को रोकने के लिए किए गये इस वर्ण विभाग को आधुनिक लोग समाज

की उन्नति में बाधक मानते हैं । जबकि इसी व्यवस्था ने आक्रान्ता को सह जीवन के लिए प्रेरित किया था। ऋग्वेदीय वर्ण व्यवस्था का यह एक स्थूल रूप है ।

यद्यपि ऋग्वेदकालीन समाज का ऐसा स्वरूप था कि समाज में रहने वालों के लिए किसी भी वृत्ति की स्वतन्त्रता थी । ये ऋषि तथा ऋषिकायें भी हो सकते थे—

कारूरहं ततो भिषगुंपलप्रक्षिणीं नना । ऋ० ९.११२.३

एक ऋषि का कहना है कि मैं तो कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और माता आटा पीसती है । संघर्षमय जीवन के कारण शनैः शनैः क्षत्र और ब्रह्म की प्रधानता हो जाने पर भी सबको 'विश्' (प्रजा) होने का अभिमान था । क्षत्र और ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं । अतः भाववाचक होने से भिन्न-भिन्न कर्मों के द्योतक हैं । क्षत्रिय और ब्राह्मण शब्द उक्त शब्दों से उत्तरकाल में ही निकले और व्यवहार में आये । ऋग्वैदिका में वास्तव में आर्यों में ब्राह्मण समाज क्षत्रिय और वैश्यों के विभेद का प्रामाणिक वर्गीकरण संभवतः नहीं हुआ था । क्योंकि ऋग्वेद संहिता में शूद्र, वैश्य और राजन्य शब्द केवल एक-एक बार (ऋ० १०.९०.१) आये हैं । ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दों का प्रयोग ब्रह्मन् और क्षत्र शब्दों की अपेक्षा बहुत ही बाद का है यद्यपि इन चार शब्दों के प्रयोग मात्र से ही उस काल की वर्ण व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है । इस तरह यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में वर्ण व्यवस्था के बीज तो अंकुरित हो रहे थे, लेकिन वह एक विशाल वृक्ष का स्वरूप नहीं ले पाया था, जो हमे उत्तरवैदिक समाज के अध्ययन में दिखायी पड़ता है ।

ऋग्वेद कालीन समाज में संस्कार का स्वरूप

भारतीय समाज के विकासक्रम में शनैः शनैः जीवन की धारा अनुशासित एवं नियमबद्ध हुई और आगे चल कर नियम की इस आबद्धता ने संस्कार का स्वरूप ले लिया । ऋग्वैदिक समाज में इसका स्वरूप कब विकसित हुआ यह कहना कठिन है, क्योंकि संस्कार किसी भी वस्तु का किया जा सकता है । लेकिन संभावना यही प्रतीत होती है कि दैनिक कार्यकलापों को जब एक संस्कार का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा तो मानव को स्वयं को सुसंस्कृत करने का विचार प्रस्फुटित हुआ होगा। इस क्रम में हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि संस्कार का विकास क्रम कहाँ से प्रारम्भ हुआ संभव है सर्वप्रथम विवाह संस्कार तदनन्तर दूसरे संस्कारों का चलन हुआ हो अथवा शव विसर्जन की क्रिया ने परम्परा का स्वरूप ले लिया हो ।

हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक समाज में प्रमुख संस्कारों के रूप में विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कार ने स्थान बना लिया था । आधुनिक परिवेश में संस्कारों का जो स्वरूप एवं क्रम है उसी क्रम में हम संस्कार का विवेचन यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

१. गर्भाधान —

वह कृत्य जिसमें पुरुष, पुत्रोत्पत्ति की कामना से स्त्री के गर्भ में अपने वीर्य का आधान करता है, गर्भाधान संस्कार कहा जाता है । यह एक अनिवार्य कर्म था ।

ऋग्वेद में हम प्रार्थना आदि के वचनों में पितृक-मातृक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति देखते हैं[७०] । पुत्र को 'ऋणच्युत' कहा जाता था[७१] । जिससे कि पैतृक और आर्थिक दोनों ऋणों का बोध होता है । साथ ही सन्तति प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक और परम कर्त्तव्य समझा जाता था । अथर्ववेद में बहुत सी उपमायें और प्रसंग हैं जो गर्भाधान के लिए स्त्री के पास किस प्रकार जाना चाहिए इस पर प्रकाश डालते हैं[७२]। जिससे पता लगता है कि ऋग्वैदिक आर्य गर्भाधान संस्कार के मान्य स्वरूप से परिचित थे । वेद में गर्भधारण की ओर इङ्गित करने वाली अनेक प्रार्थनायें हैं —

विष्णु गर्भाशय निर्माण करें, त्वष्टा तुम्हारा रूप सुशोभित करें, प्रजापति बीज बपन करें, धाता भ्रूण स्थापन करें ।

हे सरस्वति ! भ्रूण को स्थापित करो ! नील कमल की माला से सुशोभित दोनों अश्विनी कुमार भ्रूण प्रतिष्ठित करें[७३] अथर्ववेद में गर्भधारण करने के लिए स्त्री को पर्यङ्क पर आने के लिए निमन्त्रण का उल्लेख है — 'प्रसन्नचित्त होकर शय्या पर आरूढ़ हो मुझे, अपने पति के लिए सन्तति उत्पन्न करो[७४], ऋग्वेद में सहवास के भी स्पष्ट विवरण प्राप्त होते हैं।[७५]

प्रश्न यह है कि इस संस्कार को कौन करता था । ऋ० में हमें ऐसे संकेत हैं कि विशेष परिस्थिति में गर्भाधान का अधिकार पति के अतिरिक्त देवर को भी था। एक प्रसंग में एक विधवा अपने देवर को पति के लिए सन्तति उत्पन्न करने के लिए आमन्त्रित करती है[७] ।

२. पुंसवन —

ऋग्वेद में इस संस्कार पर कोई विशेष सन्दर्भ नहीं प्राप्त है । पुंसवन का अर्थ है भ्रूण में पुंसत्व की कल्पना । बाद के वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ आते हैं जहाँ पुत्र को जन्म देने वाली माताओं को समाज में विशेष स्थान प्राप्त था । अथर्ववेद के एक मन्त्र में इसका उल्लेख किया गया है । जिसमें पुमान् का उल्लेख है तथा वह

पुत्र जन्म का अनुमोदन करती हैं । अथर्ववेद में भी सन्तति की प्राप्ति के लिए मन्त्रों में उल्लेख किया गया है । पति-पत्नी के समीप प्रार्थना करता है कि —

जिस तरह धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है उसी तरह तुम्हारी योनि में पुत्र को जन्म देने वाले गर्भ का आधान हो[७७] । दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो । उसके पश्चात् भी सुसन्तति का प्रसव हो । तू पुत्रों की माता बन, उन पुत्रों को जो उत्पन्न हो चुकें हैं तथा जिनका तू भविष्य में प्रसव करेगी।[७८] इस कृत्य को प्राजापत्य कहा गया है।[७९] गर्भिणी स्त्री को औषधि देने का भी उल्लेख है ।

''जिन वीरुदो का द्यौ पिता है, पृथिवी माता है, तथा समुद्र मूल है, वे दिव्य औषधियाँ पुत्र प्राप्ति में तेरी सहायता करें।[८०] इस संस्कार के सामाजिक तत्त्व यद्यपि हमें ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होते लेकिन अथर्ववेद तक इस संस्कार का सामाज़िक स्वरूप विकसित हो चुका था तथा उत्तरवैदिक साहित्य में इस संस्कार को प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी ।

३. सीमन्तोन्नयन —

यह तीसरा संस्कार है । नाम के अनुसार कृत्य भी है अर्थात् इसमें गर्भिणी स्त्री के केशो (सीमन्त) को ऊपर (उन्नयन) उठाया जाता है । इसका कोई संङ्केत ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं है लेकिन परवर्त्ती साहित्य में इस संस्कार का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है ।

४. जातकर्म संस्कार —

ऋ० में 'जन्मन्' शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर है ।[८१] किन्तु वहाँ इसका उल्लेख पुत्र आदि सम्बन्धियों के लिए आया है।[८२] । इसके अतिरिक्त जिन सन्दर्भों में यह शब्द व्यवहृत हुआ है उनसे जातकर्म से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है किन्तु अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में सुरक्षित प्रसव के लिए प्रार्थनाएँ संग्रहीत हैं। जहाँ यह कहा गया है कि — 'हे पूषन्! प्रसूति के इस अवसर पर विद्वान और श्रेष्ठ होता तेरा यजन करें । स्त्री भली भाँति शिशु का प्रसव करे । स्त्री के शरीर के पर्व प्रसव के लिए विशेष रूप से शिथिल हो जाएँ। द्युलोक की चार दिशायें हैं तथा जिस प्रकार भूमि को चारों दिशाएँ घेरे हुये हैं उसी प्रकार गर्भ भी चारों ओर से घिरा हुआ है तथा देव उसे गति देते हैं । ये ही उसे प्रसूति के लिए गर्भाशय से बाहर करें' । सुख प्रसविनी स्त्री जब अपने गर्भ को बाहर करती है तब हम उसकी योनि को विस्तृत करते हैं ।

हे सूषणे! तू अपने अङ्गों को श्लथ छोड़ दे एवं गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित कर। जरायु न तो माँस में, न वसा में, और न मज्जा में ही सटा रहता है। वह अंग के आभ्यन्तर को स्पर्श करने वाले जल में उतराने वाले शैवाल या सेवार के समान जरायु कुत्ते आदि के खाने के लिए बाहर आवे। मैं तेरे मूत्रद्वार को भिन्न करता हूँ तथा योनि को विस्तृत करता हूँ। योनि मार्ग में स्थित दो नाड़ियों को पृथक करता हूँ। जिस प्रकार वायु, मन तथा पक्षी बाहर निकलकर उड़ने लगते हैं उसी प्रकार दस मास पर्यन्त गर्भस्थ शिशु! तू जरायु के साथ बाहर आ जा! जरायु भी बाहर आवे[८३]।

अथर्ववेद के इस सूक्त से प्रतीत होता है कि संभवत: ऋग्वेद काल में इस संस्कार का सूत्र पात हुआ होगा क्योंकि पति, पत्नी की प्रसव वेदना देखकर एवं उसे असहाय समझते हुये अवश्य ही देवताओं से प्रार्थना करता रहा होगा। यद्यपि इस विषय पर कोई चर्चा नहीं है।

५. नामकरण संस्कार —

'नामन्' शब्द ऋग्वेद से लेकर आज तक के साहित्य में सुरक्षित है[८३]। पदार्थों तथा व्यक्तियों के नाम वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद गुह्य नाम को मान्यता प्रदान करता है[८५]। इस सम्बन्ध में किसी विशेष यज्ञ या अनुष्ठान का सङ्केत ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता है।

६. निष्क्रमण संस्कार —

निष्क्रमण अथवा शिशु एवं प्रसूता को विधि-विधान पूर्वक घर से बाहर लाने की प्रथा भले ही अत्यन्त प्राचीन रही हो किन्तु ऋग्वेद में इसका विशेष उल्लेख नहीं है।

७. अन्नप्राशन संस्कार —

शिशु मुख्य रूप से स्तन्य पर आश्रित होता है एवं उसके जीवन में प्रथम बार ठोस अन्न का ग्रहण करना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। परवर्त्ती काल में आकर ही इस संस्कार को धार्मिक रूप प्राप्त हुआ है। अत: देवताओं की सहायता से शिशु में शक्ति के उस स्रोत को प्रविष्ट कराना अनिवार्य था। अन्नप्राशन संस्कार के विषय में ऋग्वेद में कोई सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता है।

८. चूडाकरण संस्कार —

चूडाकरण संस्कार के अवसर पर गृह्य सूत्रों में व्यवहृत सभी मन्त्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद में मुण्डन के लिए सिर को भिगोने का उल्लेख है[८६]। मुण्डन में व्यवहृत छुरे की स्तुति तथा उससे अहानिकर होने की प्रार्थना की गई है।

'नाम से तू शिव है । लोहा (स्वधिति) तेरा पिता है । मैं तुझे नमस्कार करता हूँ । तू शिशु की हिंसा या क्षति न कर[८७] ।' सविता के प्रतिनिधिभूत, नापित का भी स्वागत किया गया है[८८] । केशच्छेदन विषयक अन्य अनेक पौराणिक सङ्केत भी वेदों में मिलते हैं[८९] ।

इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज में इस संस्कार के बीज तो पड़ गये थे लेकिन इसका अंकुरण उत्तरवैदिक काल में ही हुआ ।

९. कर्णवेध —

ऋग्वेद में इस संस्कार के स्वरूप का कोई उल्लेख नहीं मिलता । यद्यपि देवताओं के विषय में कहा गया है कि वे विभिन्न आभूषणों को धारण करते हैं । उनके विषय में 'स्वर्णिम्' विशेषण कई बार आया है । इस आधार पर हमें यह अनुमान होता है कि वे स्वर्ण आभूषण धारण करते थे । इसकी भी संभावना है कि देवताओं के शरीर की कान्ति ही स्वर्ण के समान हो ।

ऋ० में १०. **विद्यारम्भ संस्कार**, ११. **वेदारम्भ संस्कार**, १२. **उपनयन संस्कार**, १३. **केशान्त संस्कार**, १४. **एवं समावर्तन संस्कार** का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है ।

१५. विवाह संस्कार —

ऋग्वेद में विवाह संस्कार की गणना प्रमुख संस्कार के रूप में की जा सकती है । इसी संस्कार के माध्यम से उस काल की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है कि परिवार संस्था दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।

ऋग्वेद संहिता में दशम मण्डल के सातवें अनुवाक् का 'पचासीवाँ सूक्त सूर्या विवाह सूक्त' नाम से अनुक्रमणी में कहा गया है । इस सूक्त की ऋषिका भी सविता की पुत्री सूर्या को बताया गया है । जगती अनुष्टुप् त्रिष्टुप छन्दों में सुबद्ध सैतालिस मन्त्रों वाले इस सूक्त की प्रथम पाँच ऋचायें सोम के रहस्यात्मक स्वरूप से सम्बद्ध है । शेष बयालीस ऋचाओं में मुख्यतः सूर्या के विवाह तथा दम्पति के लिए आशीर्वचन है ।

यह विवाह जैसे सामाजिक संस्कार के सम्बद्ध में एक मात्र सूत्र होने से महत्वपूर्ण है । षोडश संस्कारों में से इसके अतिरिक्त किसी संस्कार के विषय में ऋग्वेद संहिता में कोई पृथक सूक्त उपलब्ध नहीं है ।

ऋग्वेद में किसी भी प्रकार के अस्थायी विवाह का उल्लेख नहीं मिलता । उर्वशी तथा पुरूरवा के आख्यान में मात्र अस्थायी विवाह का सङ्केत है । यह प्राचीनतम समाज की अवशेष स्मृति है साथ ही अपवाद भी है एवं दो भिन्न समाजों (अप्सरस् एवं मानव) के प्रेम का संकेतक है ।

तत्कालीन समाज में विवाह के स्वरूप को आभासित करने वाले इस सूक्त में (ऋ० १०.८५.१ से ४७ तक) यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाहोत्सव में स्वयंवर का प्रचलन रहा होगा। यद्यपि इस सूक्त में सूर्या का वरण अन्ततः अश्विनौ ने किया परन्तु सोम को भी इसकी कामना करने वाला कहा गया है।[९०]

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत् पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ऋ० १०.८५.९

पूषा के मन में भी कुछ ऐसी ही इच्छा थी जिससे वे प्रस्तुत रहे होंगे। अश्विनौ के वर्चस्व के समक्ष उसने न केवल प्रतिद्वन्दियों में से अपने को अलग ही किया अपितु अश्विनौ को पिता भी मान लिया (पुत्रः पितराववृणीत पूषा)। विश्वेदेवों ने भी समर्थन किया (विश्वेदेवा अनुतद्वामजानन्) सूर्या ने अपनी इच्छा से अश्विनौ का वरण किया।

तथापि पिता के अनुमोदन की भी इच्छा थी। अतः स्पष्ट होता है कि पतिवरण में स्वगृहजनों के अनुमोदन में विवाह उत्तम माना जाता रहा होगा।

वही वधू भद्रा कहलाती है जो सुन्दर वेश-भूषा से अलंकृत होकर जन सभा में अपने पति (मित्र) का वरण करती है[९१]। सामान्यतः वही विवाह श्रेष्ठ होता था जिसमें वर कन्या एक दूसरे को परस्पर भली भाँति जानते रहे हों। प्रायः माता-पिता, पुत्री को अपने पति के वरण के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते थे और प्रेम-प्रसङ्ग में प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित करते थे[९२]। कन्या की माता उस समय का विचार करती थी जब कन्या का विकसित यौवन उसके लिए पति प्राप्त करने में सहायक होगा। यह पूर्णतः पवित्र व आनन्द का अवसर था जिसमें न तो किसी प्रकार का कलुष था और न अस्वाभाविकता[९३] एवं विवाह का यह मार्ग प्रशस्त था।[९४]

विवाह के प्रकार—

आसुर विवाह —

मनु के अनुसार जिस विवाह में पति, कन्या तथा उसके सम्बन्धी को यथाशक्ति धन प्रदान कर, स्वछन्दता पूर्वक कन्या से विवाह करता है उसे आसुर विवाह कहते हैं[९५]। वैदिक काल[९६] में कुछ ऐसे भी उदाहरण है, जब कन्या धन लेकर दी जाती थी[९७]। लोभ से वशीभूत होकर कभी-कभी कन्यायें स्वयं धन के लिए सम्पत्तिशाली व्यक्ति से विवाह कर लेती थी[९८]। भले ही वह अन्य प्रकार से अयोग्य ही क्यों न हो। मैत्रायणी संहिता में क्रीता पत्नी की अविश्वसनीयता तथा चरित्र हीनता की निन्दा की गयी है[९९]। इसके विपरीत इस तरह के जामाता की प्रसंसा की गई है[१००]। जिस कन्या में शारीरिक दोष होता था उसे वर के लिए कुछ देना पड़ता था[१०१]।

आर्ष विवाह —

जब विस्तृत ज्ञान तथा आध्यात्मिक योग्यता के कारण किसी ऋषि के साथ किसी कन्या का विवाह किया जाता था तो विवाह का वह प्रकार आर्ष कहलाता था[१०२]।

देव विवाह — आर्ष की अपेक्षा यह प्रशस्त प्रकार है। इसमें पिता कन्या को सुसज्जित कर ऋत्विज को दे देता था।

ब्राह्म विवाह — ऋग्वेद में वर्णित सोम के साथ सूर्या[१०३] का विवाह ब्राह्मविवाह का प्राथमिक रूप है। यह आज भी उसी प्रकार प्रचलित है। यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल[१०४] में प्राप्त सूर्या विवाह के प्रकरण को कुछ विद्वान प्राजापत्य विवाह का प्रारम्भ मानते है जबकि इसे ब्राह्म विवाह ही मानना उचित है। आगे इस पर प्रकाश डाला गया है।

सेवार्ट के अनुसार आर्यलोग विवाह के विषय में सवर्ण तथा असगोत्र विवाह दोनों नियमों का अनुसरण करते थे[१०५]।

असगोत्र विवाह —

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गोत्र शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता यद्यपि वहाँ गोष्ठ या गोशाला के लिए 'गोत्र' शब्द प्रयुक्त[१०६] है। पारिभाषिक अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् के उस प्रकरण में प्राप्त होता है जहाँ सत्यकाम जाबाल का आचार्य उससे अपना गोत्र पूछता[१०७] है। असगोत्र विवाह की संकल्पना ऋग्वेद में नहीं मिलती।

अनुलोम विवाह —

वैदिक काल में इस तरह के विवाह का अधिक प्रचलन था। यह समझना कठिन है कि यदि अन्तर्जातीय विवाह का किसी भी प्रकार का व्यवहार निषिद्ध था तो उत्सवों, सामाजिक कार्यों के अवसर पर व्यक्तिगत रूप से परस्पर मिलने जुलने की स्वतंत्रता युवकों और युवतियों को कैसे दी जा सकती थी। ऋग्वेद कालीन पुरोहित वर्ग के विषय में प्रायः यह कहा गया है कि उन्होंने राजवंशो में विवाह किया जैसा कि च्यवन, स्यावाश्व या विमद ने किया[१०८]। अथर्ववेद में[१०९] ब्राह्मण को सभी वर्णों की कन्याओं का श्रेष्ठतम पति होने वाला कहा गया है।

प्राजापत्य विवाह —

इस प्रकार का विवाह ऋग्वेद में द्रष्टव्य है। एक ऋचा में सोम को वर और

सूर्या को वधू कहा गया है[११०]। एक अन्य ऋचा में वर-वधू को साथ रहने तथा कभी विमुक्त न होने की कामना की गयी है[१११]। दूसरी ओर इन्हें गार्हपत्य जीवन के कर्त्तव्यों का निर्वाह करने को कहा गया है[११२]। इससे इस प्रकार की विवाह पद्धति का संकेत मिलता है।

विवाह संस्था समाज को उच्च आदर्श की प्रेरणा देती हैं। सुन्दर एवं शान्ति पूर्ण जीवन बिताने का मार्ग दिखाती हैं[११३]।

विवाह योग्य आयु —

ऋग्वेद में 'अर्भ'[११४] शब्द के आधार पर बाल विवाह को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है लेकिन इससे सहमत होना उचित नहीं है। वैदिक युग में विवाह दो विकसित व्यक्तियों का होता था[११५]। ऋग्वेद में 'युवतयो:, युवानाम्' जैसे सन्दर्भ विवाह सूक्त में है[११६]। इसमें यह कहा जा सकता है कि कन्या विवाह के समय युवा होती थी तथा वह प्रजनन एवं सहवास की क्षमता रखती थी। पति एवं पत्नी के वैवाहिक सामञ्जस्य तथा प्रसन्नता पूर्वक जीवन- निर्वाह की कामनायें उनकी वयस्क अवस्था का परिचायक है। ऋग्वेद में अग्निदेव के[११७] लिए कहा गया है कि वे पति पत्नी को समान मन वाला बनाते हैं अर्थात् पति पत्नी एक दूसरों के विचारों का आदान-प्रदान सुगमता से कर सकते थे जो उनके प्रौढ़ होने का परिचायक है। वही कन्या विवाह योग्य होती थी जो आलिङ्गन से उत्पन्न आनन्द का अनुभव कर सके[११८]। ऋ० १०.८५.२३ में भी इसी ओर सङ्केत है, वहां यह प्रार्थना की गयी है कि वर को पुष्ट अङ्गों वाली कन्या प्राप्त हो। ऋ० १०.८५ के अनेक ऋचाओं में यह सन्दर्भ है जिससे सन्तति उत्पन्न करने की तात्कालिक क्षमता का आभास होता है। सहवास वैदिक विवाह का आवश्यक एवं परम कर्त्तव्य था[११९]। पाणिग्रहण के लिए कन्या का सुन्दर वर्णन मिलता है[१२०] कि- सोम ने उसे पत्नी के रूप में प्राप्त किया तब गन्धर्व ने तदनन्तर चतुर्थ पति के रूप में मनुष्य को कहा गया है। काल गणना के सन्दर्भ में उल्लेख है कि[१२१] जब तक काम उत्पन्न होता है तब तक गन्धर्व उसका स्वामी होता है, वह विवाह के समय अग्नि को दे देता है, काम के पूर्व सोम इसका स्वामी होता है। पुनः मनुष्य उसे ऐश्वर्य एवं सन्तति के लिए प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विवाह के पूर्व कन्या के शारीरिक विकास को प्रदर्शित किया गया है।

ऋग्वेद में समन उत्सव[१२२] का उल्लेख हुआ है। युवा कन्या प्रसन्नता के साथ 'समन' नामक उत्सव में जाती थी। वहाँ वे उपयुक्त वर का चुनाव करती थी। अविवाहित कन्याएँ युवा पुरुषों को आकर्षित करने के लिए सुन्दर वस्त्र एवं अलंकरण

अपनी इच्छानुसार अपने मृत पति के भाई से विवाह कर सकती थी[१४८] । विधवा स्त्री के देवर का साथ उसके सामाजिक सम्बन्धों अथवा यौन सम्बन्धों का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है । पुत्र के लिए व्यग्रता विविध स्थलों पर दर्शनीय है । विवाह में वधू को दशपुत्रवती होने का उल्लेख है[१४९] इसलिए मृतपति के भाई से विधवा के विवाह की संभावना अधिक प्रतीत होती है ।

अन्त्येष्टि सूक्त की एक ऋचा का उत्तरार्ध विधवा विवाह का पोषक माना जाता है[१५०] । प्रस्तुत ऋचा के 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः और पत्युः, शब्द से नये भावी पति का सङ्केत मिलता है । सायण ने 'दिधिषु' का अर्थ 'विधवा' के प्रति विवाह का प्रस्ताव किया है[१५१] । अल्तेकर विधवा विवाह के सम्बन्ध में लिखते हैं — वैदिक साहित्य में नियमित पुनर्विवाह के उद्धरण बहुत कम है क्योंकि उस समय पुनर्विवाह की अपेक्षा 'नियोग' अधिक प्रचलित था[१५२] । डॉ० दास के अनुसार विधवा विवाह ऋग्वैदिक समाज में प्रचलित नहीं था[१५३]।इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है कि 'विवाह ऋग्वेद में युवावस्था में होते थे इसलिये वैधव्य की संभावना अल्पायु में कम थी और वैधव्य वृद्धावस्था में पुनर्विवाह की अपेक्षा नहीं रखता था ।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज विवाह की इस प्रथा से अपरिचित नहीं था । अथर्ववेद तक आते-आते यह प्रथा काफी विकसित हो चुकी थी । अथर्ववेद के एक मन्त्र[१५४] से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विधवा नये पति के साथ सन्तान और धन प्राप्त करती थी ।

अन्तर्जातीय विवाह

जाति-प्रथा के बीज उस काल में विकसित हो रहे थे । ऋ० १०.८५ में वधू के वस्त्रों को ब्राह्मण को देने के लिए कहा गया है । जिससे यह पता लगता है कि उस काल में ब्राह्मणों का अपना विशेष स्थान था[१५५] । ऋग्वेद में अन्तर्जातीय विवाह का निषेध नहीं है । ऋग्वेद में ऐसे किसी भी प्रयास का सर्वथा अभाव है जिसमें उस काल के विवाह सम्बन्धों पर किसी निश्चित नियम का उल्लेख किया जा सके ।

विवाह की मर्यादा

यम-यमी[१५६] के वार्तालाप से पता चलता है कि भाई बहिन के परस्पर विवाह का निषेध था । शतपथ ब्राह्मण[१५७] के अनुसार तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह की अनुमति है । यह उचित समझा जाता था कि छोटे भाई बहिन बड़े-भाई बहिन से पहले विवाह न करें । परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में इसके विपरीत आचरण करने वालों का सन्दर्भ आता है और उन्हें पतित कहा गया है। इसके लिए परिविविदानम्[१५८] शब्द

का प्रयोग मिलता है जो उस व्यक्ति के लिये है जो बड़े भाई से पहले विवाह करता है ।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर मर्यादाहीनता का भी उल्लेख है । उसके लिये महानग्नी, पुश्चली, पुश्चलू[१५९] तथा वाजसनेयि संहिता[१६०] में कुमारी पुत्र का भी उल्लेख है। कुछ गंभीर अनैतिकता के भी ऋग्वेद[१६१] में उद्धरण हैं ।

विवाह का मुख्य प्रयोजन था, सन्तान पैदा करना जिसका उल्लेख ऋग्वेद के साथ-साथ परवर्त्ती साहित्य में भी मिलता है । इस समाज में[१६२] पुत्र की इच्छा स्वाभाविक थी जिसमें पिता के दाह संस्कार आदि के लिए तथा वंश परम्परा को कायम रखने के लिए पुत्र का होना आवश्यक समझा जाता था ।

अन्त्येष्टि संस्कार

इसका प्राचीनतम स्वरूप ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में प्राप्त होता है । ऋग्वेद में अग्नि[१६३] से प्रार्थना की गयी है कि मृतक के अज भाग को अपने ताप से तपायें । उसकी ज्वालायें और दीप्ति मृतक को तपाये, एवं अग्नि की कल्याणकारिणी मूर्तियाँ उसे पुण्य कर्म करने वालों (सुकृतों) के लोक में ले जायें ।

शरीर से आत्मा के अलग होने का उल्लेख दशम मण्डल में भी प्राप्त होता है[१६४]। यहाँ कहा गया है कि तुम (मृतक) उसी मार्ग से गमन करो जहाँ से उसके (तुम्हारे) पूर्वज गये हैं । और स्वधा से प्रसन्न हुए एक राजा को यम और वरुण के दर्शन करने के लिये कहा गया है । इसके माध्यम से यहाँ आत्मा का आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत किया गया है । ऋ० १०.१४.४ में अग्नि का उल्लेख, मृतक को जलाने के सन्दर्भ मे आया है । शव को सर्वप्रथम अग्नि को ही समर्पित किया जाता था, यम केवल आत्मा का हरणकर्ता था ।

ऋ० में इस प्रकार के कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह पता लगता हो कि शव के जलाने के अतिरिक्त नदी अथवा जल में विसर्जित करने की भी प्रथा थी ।

आर्य अग्नि को देवताओं का दूत और हव्यों के संवाहक के रूप में मानते हैं[१६५]। इसी अभिप्राय से मृतक का शरीर सर्वप्रथम अग्नि को समर्पित किया जाने लगा । जिससे यमलोक में मृतक का शरीर पुनः प्रतिष्ठित होकर तथा नवीन शरीर धारण करके अपने पूर्वजों से सम्बद्ध हो सके[१६६] । प्रो० मैक्डॉनल के अनुसार भूत-प्रेत अधिकांशतः पृथिवी मे गड़े हुए मृतक की आत्मा से उत्पन्न होते हैं[१६७]। अतः इससे बचने के लिए दाह-प्रथा का प्रचार-प्रसार हुआ ।

अन्त्येष्टि संस्कार की प्रक्रिया

मृतक का शरीर उसकी विधवा एवं अन्य नारियों के साथ उसके सम्बन्धी एवं

मित्र श्मशान भूमि तक ले जाते थे। वहाँ पर संस्कारकर्त्ता मृत्यु को सम्बोधित करके उसे देवयान मार्ग से जाने के लिए और सम्बन्धियों को किसी भी प्रकार हानि न पहुँचाने के लिए कहता था। पुनः मृतक से कुटुम्बी जनों की सम्पन्नता एवं समृद्धि की शुभकामना की जाती थी[१६८]।

विद्वानों का मत है कि दाह संस्कारों में पितरों तथा अग्नि को एक गौ अथवा बकरी उसे भोज्य के रूप में दी जाती थी। रागोजिन ने[१६९] इसे बकरी तथा प्रो० दास ने[१७०] इसे गाय माना है इनके अनुसार इस प्रथा से पितरों और अग्नि को तृप्त करना था।

यद्यपि रागोजिन एवं प्रो० दास का यह मत तर्क संगत नहीं है। द्रव्य की चर्चा अवश्य है लेकिन ऐसा नहीं लगता कि इसके साथ किसी जीवधारी की बलि भी दी जाती थी। मृतक के शरीर के विभिन्न अङ्गो का विभिन्न अवयवों में विलय दिखाया गया है[१७१]। श्वास वायु में, नेत्र सूर्य में, और उसके शारीरिक अंश को वानस्पति में व्याप्त होने का वर्णन[१७२] है।

दशम मण्डल के कुछ मन्त्र इस विषय में विवादास्पद है। अनेक विद्वान मृतक को पृथिवी में गाड़ने का वर्णन स्वीकार करते हैं। प्रो० दास[१७३] एवं प्रो० रागोजिन[१७४] भी इस मत से पूर्ण सहमत हैं।

ऋग्वैदिक समाज में इस संस्कार के विभिन्न तर्कों को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि अन्त्येष्टि संस्कार एक लघु यज्ञ था एवं शव का दाह- संस्कार एक यज्ञ मानकर पूरा किया जाता था। संभव है उसके बाद अस्थि अवशेषों को पृथिवी में गाड़ दिया जाता था।

ऋग्वेद में अन्त्येष्टि कर्म के बाद सती प्रथा का कोई प्रमाण हमें नहीं प्राप्त होता है।

आश्रम व्यवस्था

श्रेय की कामना वाले व्यक्ति जहाँ पहुँच कर श्रम से युक्त होते हैं, उसे आश्रम कहते हैं।[१७५] अमरकोष के टीकाकार भानुजी दीक्षित का मत है कि जिसमें पहुँचकर सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाय वह आश्रम है।

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्न्यास, इन चारों आश्रमों के द्वारा मानव, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना करता हुआ जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर होता है।[१७६]

ऋग्वेद में आश्रम व्यवस्था के तत्त्व निहित हैं तथा ब्रह्मचारी[१७७] शब्द का उल्लेख भी है। अथर्ववेद[१७८] में ब्रह्मचर्य आश्रम का विस्तृत विवेचन है। यहाँ कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख है।

ऋ० के दशम मण्डल के सूर्या विवाह सूक्त के प्रकरण में गृहस्थ आश्रम के बीज निहित हैं।

गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ विवाह के पश्चात् ही होता है। इसी सन्दर्भ में ऋ० १०.८५.४५ में सन्तान को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि वहाँ पत्नी के गर्भ से दस पुत्रों के उत्पन्न होने की कामना की गयी है। गोपथ ब्राह्मण[१७९] में कहा गया है कि पुत्र, पुत् नामक नरक से पितरों का उद्धार करता है इसीलिए उसे पुत्र कहते हैं।

डॉ० पी०वी० काणे[१८०] का मत है कि प्राचीन काल में सम्भवतः वानप्रस्थ के लिए वैखानस शब्द प्रचलित था। ऋक् अनुक्रमणी के अनुसार ऋ०[१८१] के मन्त्रद्रष्टा सौ वैखानस कहे गये हैं। इसी प्रकार ऋ०[१८२] के ऋषि वभ्र वैखानस हैं।

वैदिक संहिताये पुरुषार्थ तथा कर्म पर विशेष बल देती हैं। अतएव इनमें निवृत्ति मूलक सन्न्यास आश्रम के प्रति विशेष आस्था दृष्टिगोचर नहीं होती है। ऋग्वेद में 'यति' शब्द भृगु के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है।[१८३] सायण[१८४] के अनुसार यहाँ 'यति' का अर्थ 'कर्म से उपरत' व्यक्ति है। इसी से ऋग्वेद काल में सन्न्यासआश्रम की कल्पना की जा सकती है।

उपर्युक्त प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल के सामाजिक परिवेश में जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था का विकास हो रहा था, वहीं पर दूसरी ओर आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानसिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास प्रारम्भ हो गया था।

सन्दर्भ

१. E.W. Hopkins, *The Punjab and the Ṛg-Veda*, *JAOS*, 1918,.
२. *Journal of Royal Asiatic Society*, 1909, 'On the Antiquity of Vedic Culture', H. Jakobi, p. 723
३. Winternitz, *History of Sanskrit Literature*, Vol. I, pp. 304-306.
४. K.N. Shastrī, *New light on the Indus Civilization*, Vol. II, Delhi, 1965, p. 142.

५. E. Vernon Arnold, *The Rigveda*, Published by David Nutt, at the sign of Phoenix, Long Acre, London, 1900
६. Majumdar, *The Vedic Age*, Vol. I, p. 241.
७. ऋग्वेद काल में सामाजिक जीवन, पृष्ठ १३७
८. ऋ० ७.८.८
९. ऋ० १०.७५.१ से ९
१०. ऋ० १०.७५.४
११. ऋ० १०.७५.५
१२. K.C. Jain, *Pre-history and Proto-history of India*, p. 279
१३. वही
१४. K.C. Jain, *Pre-history* and *Proto-history of India*, p. 78
१५. आर्या अत्रावर्तन्ते पुन: पुनरूद्भवन्तीत्यार्यावर्त्त: । ११/२२ मनुस्मृति पर कुलूक भट्ट
१६. ३.२३.४ नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्
१७. A.C. Das, *Rg-Vedic India*, p. 57.
१८. वही
१९. डॉ० सम्पूर्णानन्द, आर्यों का आदि देश, ऋ० ९.३३.६ राय: समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वत: । ऋ० १०.४७.२ चतु: समुद्रं धरूँणं
२०. ऋ. २.१२.२ य: पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् य: पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्
२१. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसत: परिजज्ञिरे–अथ० १०.७.२५
२२. ऋ०.१.११३.१९
२३. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु: ऋ० १०.६३.७
२४. यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्न- ऋ० १.८०.१६
२५. ऋ० १.९६.२, १.९४.४
२६. ऋ० १.१३९.९
२७. ऋ० ७.३३.११ उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वस्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जात:
२८. ऋ० १.७३.७, १.९६.५, १.११३.२, ४.५.१३, ९.९७.१५, ९.१०४.४, ९.१०५.४, १०.३.३., वा० सं० ४.२.६ इत्यादि
२९. ऋ० १.४०.९ तुलना मै. सं ४.३८
३०. नि० २.४
३१. ऋ० २.१२.४, ३.३८.९
३२. श० ब्रा० ४.५.४.९, ६.४.४.१३
३३. ऋ० १०.९०.१२
३४. वा० सं० ३१.११
३५. तै० आ० ३.१२.५

३६. नि० २.४
३७. ऋ० १०.९०.१२
३८. ऋ० १०.९०.१२ पर सायण भाष्य
३९. यजु० ३१.११ पर महीधरभाष्य
४०. यजु० ३१.११
४१. ऋ० १०.९०.१२ का विल्सन कृत अनुवाद
४२. पुरुष सूक्त का अनुवाद
४३. अथर्व० १९.६.६ पर ग्रिफिथ कृत अनुवाद
४४. ए. ए. मैक्डॉनल, वैदिक रीडर, पुरुष सूक्त - १२
४५. देवराज चानना द्वारा संग्रहीत, 'ऋक् सूक्त संग्रह' पुरुष सूक्त - १२ से उद्धृत'
४६. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत ऋ० १०.९०.१२ पर सुबोध भाष्य
४७. डॉ० सुधीरकुमार गुप्त, वेद लावण्यम्, दृष्टव्य-पुरुषसूक्त
४८. ता० ब्रा० ६.१.८
४९. शत० ब्रा० ५.४.१.१७
५०. यजु० १.१०
५१. यजु० ३१.११ पर उवट भाष्य
५२. श० ब्रा० ३.९.१.४
५३. तै० सं० ५.२.७
५४. का० सं० १०.४
५५. ऋ० २.२४.१३
५६. J. Gonda, *Triads in the Veda*, p. 128.
५७. डॉ० सिद्धनाथ शुक्ल, वेदमञ्जरी, पृ० ३७
५८. ऋ० १.१६४.४५ पर सायण भाष्य
५९. अष्टाध्यायी ४.२.५९
६०. ब्रह्म वै मन्त्र: । शत० ब्रा० ७.१.१.५
६१. ऋ० १.१०८.७, ४.५०.८, ८.७.२०, ८.४५.३९, ८.५३.७, ८.८१.३०, ९.११२.१, १०.८५.२९
६२. ऋ० १.१०७.६, ऋ० १०.१२५.५
६३. ऋ० १.७.९ ऋ० १.८९.१०, १.१००.१२
६४. सूर्यकान्त, वैदिक कोष, पृष्ठ ४२४
६५. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पृ० २१९
६६. ऋ० १.८९.१० पर सायण भाष्य
६७. ऋ० ९.११२.३
६८. ऋ० ४.५०.८ एवं ९

६९. ऋ० १०.५५.२
७०. प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् (ऋ० वे० ८.३५.१०), पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० १.८९.९)
७१. ऋ० १०.१४२.७
७२. अथर्व० ६.९.१;२
७३. ऋ० १०.१८४
७४. अथर्व० १४.२.२
७५. ऋ० १०.८५.३७
७६. ऋ० १०.४०.२
७७. अथ० ३.२३.२
७८: अथर्व० ३.२३.३
७९. अथर्व ३.२३.५
८०. अथर्व० ३.२३.६
८१. ऋ० ७.३३.१० एवं २.२६.३
८२. जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः
८३. अथर्व० २९.९.११
८४. ऋ० १०.३५.२, १०.७१.१
८५. वही
८६. अथर्व० ६.६८.१
८७. यजु० ३.६३ शिवोनामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंᳬसीः।
८८. अथर्व० ६.६८.२
८९. अथर्व ६.६८.२, ८.४.१७
९०. ऋ० १०.८५.९
९१. ऋ० १०.२७.१२
९२. ऋ० १.१२३.११
९३. ऋ० १०.२७.१२
९४. ऋ० १.११५.२
९५. मनुस्मृति ३.३१
९६. मै० सं० १.१०.११
९७. ऋ० १०.२७.१२
९८. वही
९९. मै० सं० १.१०.११
१००. ऋ० १०.१०९.२
१०१. ऋ० १०.२७.११

१०२. *Rgvedic Culture*, p. 53.
१०३. ऋ० १०.८५
१०४. ऋ० १०.८५
१०५. *Vedic Index*, Vol. II, p. 268.
१०६. राठ का उद्धरण, वेदिक इण्डेक्स, भाग एक, पृ० २३६, २४०, ३३५
१०७. छान्दोग्य उपनिषद् ४.४.१
१०८. ऋ० १.११२.१९, ११६.१, ११७.२०, १०.३९
१०९. अथर्व० ५.१७.८ एवं ९
११०. ऋ० १०.८५.९
१११. ऋ० १०.८५.४२
११२. ऋ० १०.८५.२७
११३. डॉ० पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ५२५
११४. ऋग्वेद १.५१.१३
११५. वैदिक कोष, पृ० २५९
११६. ऋ० १०.८५.२५, ४१,४२,४३,४५, एवं ४६
११७. ऋ० ५.३.२. एवं ५.२६.३
११८. ऋ० ३.३३.१०
११९. ऋ० १०.८५.२९
१२०. ऋ० १०.८५.४० एवं ४१
१२१. दि आर्यन् मैरेज, पृ० २७६, हिन्दू संस्कार, पृ० २६-३७ की पाद टिप्पणी में उद्धृत
१२२. ऋ० ४.५८.८
१२३. ऋ० ७.२.५
१२४. ऋ० १.११७.७, ऋ० २.१७.७, १०.३९.३, १०.४.५
१२५. ऋ० १.११५.२
१२६. ऋ० १.१६७.३
१२७. ऋ० ६.५५.५; ८
१२८. ऋ० १.१२६.१ से ३
१२९. ऋ० १०.८५.७
१३०. ऋ० १.१०९.२
१३१. ऋ० १०.१८.८
१३२. ऋ० १.६२.१०
१३३. ऋ० ३.५४.१४ एवं ऋ० १.१०४.३
१३४. ऋ० १०.१४३.१
१३५. ऋ० १०.१४५

१३६. ऋ० १०.१४५.१ से ६
१३७. ऋ० १०.१४५.१
१३८. ऋ० १०.१५९
१३९. ऋ० १.१५९.१
१४०. डॉ ०ए०एस० अल्तेकर, दि पोजीसन आफ वीमेन इन हिन्दू सिवलाइजेशन, पृ० १०४
१४१. ऋ० १०.१४५ एवं १५१
१४२. वी०एस० उपाध्याय, वीमेन इन ऋग्वेद ,पृ० ११५ पर उद्धृत
१४३. ऋ० ५.२.२, ५.३७.३ ।
१४४. Suryakanta, *A Pratical Vedic Dictionary*, p. 522
१४५. डॉ ०ए०एस० आल्तेकर, दि पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० ११२
१४६. A.C. Das, *Rgvedic Culture*, p. 104.
१४७. ऋ० १.११९.५
१४८. ऋ० १०.४०.२
१४९. ऋ० १०.८५.४५
१५०. ऋ० १०.१८.८
१५१. दृष्टव्य सायण भाष्य १०.१८.८
१५२. डॉ० ए०एस अल्तेकर, दि पोजीशन आफ् वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० १५१
१५३. A.C. Das, *Rgvedic Culture*, p. 429-452.
१५४. अथर्व० १८.३.१
१५५. ऋग्वेद १०.८५.२९
१५६. ऋ० १०.१०
१५७. शतपथ ब्राह्मण १.८.३.६
१५८. मै० संहिता ४.१.९ वा० संहिता ३०.९
१५९. ऋ० २.२९
१६०. वा०सं० ३०.६
१६१. ऋ० १०.१६२.५
१६२. ऋ० १.९१.२०, १.९२.१३, ३.१.२३, १०.२५.२५
१६३. ऋ० १०.१६.४
१६४. ऋ० १०.१४.७ एवं ९
१६५. ऋ० १.७० एवं १०.१२.३
१६६. ऋ० १०.१४.८
१६७. ए०ए० मैक्डॉनल, वैदिक माइथोलीजी, पृ० ७०
१६८. ऋ० १०.१८.१ से ६ तक
१६९. जेड. ए. रागोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० ४१७

१७०. प्रो० ए०सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर – पृ० ४१७
१७१. ऋ० १.११६.१ एवं २
१७२. ऋ० १०.१६.३
१७३. ए०सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ४०८
१७४. जेड० ए० रागोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० ३५०-३५२
१७५. आश्राम्यन्त्येषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमा
१७६. हिन्दी विश्वकोश, प्रथम खण्ड पृष्ठ ४२७ पर उद्धृत
१७७. ऋ० १०.१०९.५
१७८. अथ० ११.५.१ से २६
१७९. गोपथ ब्राह्मण १.१.२
१८०. डॉ० पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४८२
१८१. ऋ० ९.९६
१८२. ऋ० १०.९९
१८३. ऋ० ८.३.९
१८४. ऋ० ८.३.९ पर सायण भाष्य

* * *

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेदकालीन समाज में पारिवारिक व्यवस्था

ऋग्वेद में परिवार संघटन की अवधारणा हमें प्रकृति के सान्निध्य में या उसकी लाक्षणिकता में विकसित होती दिखाई देती है । संपूर्ण ब्रह्माण्ड परिवार की पृष्ठभूमि है जिसके अन्तर्गत अनेक देवताओं को मानवीयकृत करके उन्हें परिवार के रूप में भी उपस्थित किया गया है । सृष्टि का द्विधा विभक्त रूप या इसकी द्वन्द्वात्मकता सर्वप्रथम हमें द्यावा-पृथिवी के रूप में दृष्टिगत होती है । जिसकी गोद में समस्त देवताओं का पोषण होता है और सृष्टि की विकासात्मक प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। द्यावा पृथिवी के द्वन्द्वात्मक स्वरूप में आकाश पितृ स्वरूप 'द्यौर्नः पिता'[१] और पृथिवी मातास्वरूप (माता नो भूमिः) कही गयी है । इसमें एक ओर जहाँ सृष्टि के द्विधा विभक्त स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है वहीं दूसरी ओर सृष्टि के विकास क्रम में आकाश और पृथिवी की महत्ता का परिचय मिलता है । द्यौ को पितृ स्वरूप मानने की यह अवधारणा मात्र भारत में ही नहीं वरन् विश्व की अनेक संस्कृतियों में प्रतिष्ठित रही है । इनके अन्तर्गत विद्यमान अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ या बहुविधि प्राकृतिक उपादान देवताओं का रूप धारण करते हैं । धीरे-धीरे माता-पिता की अवधारणा इन शक्तियों में व्याप्त होती चली गयी है जहाँ प्रारम्भिक अवस्था में द्यौ को पिता स्वरूप में स्वीकार किया गया है और सम्पूर्ण देवताओं का उद्भव वहीं से माना गया है । यहीं जब अन्य देवताओं के सम्बन्ध में एक दूसरे को उत्पत्ति करने वाला कहा गया है, वहाँ इस अवधारणा का विकासात्मक स्वरूप ही प्रतीत होता है। जैसे जब अग्नि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'यः सूर्यं यः अग्निं जजान' तो वहाँ अनेक पूर्व कालीन अवधारणाओं का विकास ही नहीं अपितु अनेक संशय भी उत्पन्न होते हैं । ऐसा संशय केवल इन्द्र या अग्नि के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् अनेक देवताओं के सम्बन्ध में उपस्थित होता है । जिसे लक्ष्यकर Max Müllar ने Hinotheisim का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था । इस सिद्धान्त के साथ एक परम शक्ति की अवधारणा हमें एक परम पिता की अवधारणा की ओर ले जाती है, जिसके सन्तान के रूप में समस्त सृष्टि है । इसे हम पारिवारिक संरचना की संयुक्तता की व्यापकता अथवा संयुक्त परिवार संस्था का समष्टिरूप कह सकते हैं ।

पिता —

पुत्र की अवधारणा — पितृ प्रधान समाज का दर्शन ऋग्वेद काल से हमें प्राप्त होता है जहाँ अनेक मन्त्रों में 'द्यौस, पितर्' की चर्चा की गई है । ऋग्वेद से लेकर उत्तरवैदिककाल तक पृथिवी में माता, द्यौः में पिता, 'माताभूमिः पुत्रोअहं पृथिव्याः ' जैसी कल्पनाएँ बार-बार प्राप्त होती हैं। इससे समाज में पिता और माता दोनों की प्रधानता अथवा दोनों के समन्वय अथवा दोनों के समान अधिकार का स्वरूप प्रकट होता है ।

द्विधा विभक्त समस्त सृष्टि जहाँ द्वन्द्वात्मक परिकल्पनाओं को जन्म देती है, वहीं माता और पिता के रूप में द्यावा-पृथिवी की परिकल्पना पारिवारिक संरचना की दृढ़ता के रूप में थी । ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि आकाश और पृथिवी माता और पिता के रूप में, समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाले, दोनों हमें शक्ति और उर्जा से सम्पन्न करें[२] । उसी के साथ सोम को माता के रूप में अदिति को स्वसा के रूप में उपस्थिति करते हुये एक परिवार की परिकल्पना की गयी है[३] । पिता एवं माता के रूप में आकाश और पृथिवी सत्य स्वरूप होकर समस्त प्रकार के दुरित (निन्दनीय) कर्मो से हमारी रक्षा करते हैं[४] । इस प्रकार आकाश और पृथिवी मात्र किसी एक व्यक्ति अथवा एक देवता या माता और पिता का सम्मिलित स्वरूप ही नहीं है वरन् वे अपरिमित सृष्टि के पितृ स्वरूप है और सम्पूर्ण सृष्टि उनके पुत्र रूप में हैं[५] । इसमें कब कौन पुत्र प्रथम उत्पन्न हुआ यह कहना सरल नहीं है किन्तु अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरस को आकाश और धरती की प्रथम सन्तान के रूप में कहा गया है । इस दृष्टि से देवताओं को उस समष्टि मातृ-पितृ के प्रथम पुत्र के रूप में कहा जा सकता है[६] । शेष जगत् द्वितीय स्थान पर होगा ।

इन्हीं अङ्गिरस इत्यादि के साथ जब सवितृ को पिता के रूप में ग्रहण किया जाता है उस समय आकाश की द्यौस् सम्बन्धी यह धारणा और अधिक विस्तृत हो जाती है । सवितृ देवता के समीप गमन करते हुये अङ्गिरस रत्नों की प्राप्ति करते हैं और उस स्थिति में सवितृ महायजनीय पिता के रूप में समस्त देवताओं की कामनाओं को उसी प्रकार पूर्ण करते है जैसे पिता अपने पुत्रों की । इस प्रकार पिता की परिकल्पना ही नहीं वरन् पुत्रों की परिकल्पना का भी विस्तार होता है, अब हम आकाश तक ही सीमित नहीं रह गये वरन् पितृ सम्बन्धी अवधारणा अन्य देवताओं की ओर विस्तीर्ण होने लगी । इसलिए अब हम अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे लिए वैसे ही सुकाम बने जैसे पिता अपने पुत्र के लिए होता है अथवा सखा अपने मित्र के लिए होता है[७] ।

वैदिक देवताओं की पितृ सम्बन्धी जो भी अवधारणा है उनमें पिता और पुत्र के पारस्परिक सम्बन्धों में श्रद्धा, सम्मान और पूज्य होने का भाव निहित है अथवा पिँता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव निहित होता है ।

जैसे जिन-जिन सन्दर्भों में 'नित्यं न सुनु' पद आया हुआ है[८] वहाँ वात्सल्य के भाव की प्रतीत होती है । जिस प्रकार 'नित्यं न सुनु' (वाक्यांश ऋग्वेद की आवर्तन शैली) का संकेत करता है[९] उसी प्रकार पितेव सूनवे,[१०] पितरं न पुत्राः[११], पितरं न सूनुः[१२] जैसे वाक्यांश ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों में देवताओं के साथ जुड़ा हुआ है । जिनसे पिता और पुत्र के सम्बन्धों के प्रति उस काल की सामाजिक अवधारणाओं का द्योतन होता है ।

अधिकांश सन्दर्भों में देवताओं का आह्वान उसी प्रकार किया गया है जैसे पुत्र अपने पिता का आह्वान करता है जिसमें रक्षा की कामना[१३] आह्लाद की कामना[१४] और संवर्धन की आकाँक्षा निहित होती है[१५] । पुत्र श्रद्धा से युक्त मनवाला होकर पिता का आह्वान करता है और पिता उसे धन आदि से संवर्धित करता है[१६] ।

ऋग्वैदिक समाज में परिवार की समृद्धि, संचालन एवं पोषण पिता का मुख्य कर्त्तव्य और अधिकार था । समस्त परिवार की समृद्धि और कल्याण की वही चिन्ता करता था और पुत्रों के लिए धन संग्रह में योगदान करता था । ऐसे सन्दर्भ कहीं नहीं प्राप्त होते जहाँ यह कहा गया हो कि पुत्र पिता के लिए धन संग्रह करता है या उसका आहरण करता है । इस प्रकार सम्पत्ति का संग्रह एवं उसके सम्यक् विभाजन के लिए पिता ही मुख्य अधिकारी था ।

अतः पारिवारिक सौमनस्य में पिता का योगदान मुख्यरूप से माना जा सकता है । यह सौमनस्य निरन्तर वर्तमान रहे एवं माता-पिता की रक्षा द्वारा पुत्र- गण समृद्ध होते रहें इसलिए देवताओं से यह कामना की जाती है कि वे माता और पिता को हिंसित न करें और हम लोग उनका दर्शन करते रहें । एक सन्दर्भ में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह हमें अदिति को प्रदान करें जिससे हम अपने माता एवं पिता के दर्शन कर सकें ।[१७] इसी प्रकार रूद्र से प्रार्थना की गयी है कि वह हमारे माता-पिता की हिंसा न करें[१८] ।

पिता की सुमति अथवा उसका सख्य भाव जिसे प्राप्त नहीं है वह स्वयं सुखी होने की कल्पना नहीं कर सकता इसीलिए कामना की जाती है कि उसकी सुमति और सख्य भाव से पुत्र पृथक् न हो । पिता के महत्त्व के साथ माता के महत्त्व की तुलना की जाय तो पिता का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है । प्रथमतः समस्त देवों की परिकल्पना में पुरुष देवताओं की महत्ता ही सर्वाधिक प्रतीत होती है । यदि हम

कहें कि वेद कालीन समाज पितृ प्रधान समाज था तो अत्युक्ति न होगी यद्यपि सृष्टि की परिकल्पना में या उसके द्विधा विभाजन में आकाश और पृथिवी अथवा पुरुष और प्रकृति दोनों की समान महत्ता है। फिर भी यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से दोनों को देखें तो आकाश, द्यौस् या पुरुष ब्रह्म की परिकल्पना स्वभावत: प्राथमिक प्रतीत होता है। साथ ही सृष्टि प्रक्रिया में प्रजापति का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है जिसमें उनके साथ नारी की सहयुक्तता अप्रधान रूप में कालान्तर में विकसित हुई है।इन सबसे स्पष्ट होता है कि सृष्टि में प्रथम योगदान पुरुष का माना गया है। इसीलिये पारिवारिक सम्बन्धों की परिकल्पना में भी पिता का स्थान वैदिक समाज में सर्वोच्च था।

ऋग्वेद के मन्त्रों में जहाँ कहीं भी पिता के साथ माता का प्रयोग है वहाँ माता शब्द का प्रयोग 'च' अव्यय के साथ उसके पूरक रूप में है[१९] ।

इसलिये 'पितरं च मातरं च[२०] अथवा पिता माता च[२१]' वाक्यांश अनेक सन्दर्भों में प्राप्त होते हैं । सृष्टि का द्विधा विभक्त स्वरूप आकाश और पृथिवी के रूप में है जिनके लिये रोदसी, द्यावा-पृथिवी सम्बोधन ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं । उन्हें भी माता-पिता[२२] के रूप में स्वीकार किया गया है तथा दोनों की रक्षा के लिए आह्वान किया गया है । पितृ स्वरूप द्यौ अथवा आकाश की महत्ता सर्वोपरि है वे दुरित से हमारी रक्षा उसी प्रकार करते हैं जैसे माता और पिता हमारी रक्षा करते हैं[२३] । माता-पिता की सहायता या रक्षा हमें निरन्तर प्राप्त होती है इसलिए हम कामना करते हैं कि उनकी हिंसा कोई भी देवता न करे ।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरं (ऋ० १.११४.७)

पिता और माता के सधस्थ या उनके स्थान में रहने की निरन्तर कामना की जाती है[२४] जिससे कि हम उनका निरन्तर दर्शन कर सकें[२५]। जिस प्रकार गर्भ में माता पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार पिता वाह्य जीवन में पुत्र की रक्षा करता है,[२६] इसके अन्तर्गत भरण-पोषण-संरक्षण आदि समस्त कर्म सन्निहित हैं । पुत्रों का सम्यक् प्रकार से भरण-पोषण करना तथा बाह्य तथा आन्तरिक विपत्तियों से उन्हें संरक्षण प्रदान कर उनके जीवन को समुन्नत करना पिता का कर्त्तव्य है। माता-पिता तथा पुत्र तीनों का संवर्धन एक दूसरे के आश्रय में होता है[२७]। इसलिए तीनों में सामञ्जस्य होना आवश्यक है ।

गृह के अन्तर्गत पुत्र सुभृत होता है क्योंकि पिता उसका भली भाँति भरण-पोषण करता है[२८] । इसलिये पुत्र को पिता का निरन्तर सौमनस्य प्राप्त होता रहे[२९]। पिता और पुत्र के बीच आनुवांशिक परम्परा का विकास भी हमें ऋग्वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है जो पिता से परम्परया प्राप्त होता है उसे हम मेधा जनन या प्रमति-सम्बन्धी योगदान

कह सकते हैं । व्यक्तित्त्व का विकास प्रज्ञा पर आधारित है । यह प्रज्ञा स्वतः सिद्ध वस्तु है । इसे हम आनुवांशिक आभिजात्य सिद्धान्त से भी जोड़ सकते हैं । पिता यदि प्रज्ञावान् है तो पुत्र के प्रज्ञावान होने की अधिक सम्भावना रहती है जिसमें माता का भी महत्त्व निहित है । यदि पिता प्रज्ञावान् नहीं है तो पुत्र के प्रज्ञावान होने की संभावना कम ही रहती है ।

इसलिए जब प्रज्ञा की बात आती है तो वहाँ पिता के गुणों का विश्लेषण पहले किया जाता है, इस बात को लक्ष्य करके ऋग्वेद के एक मन्त्र[30] में इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अपने पिता के समान प्रमति वाला है । इसीलिये पिता के नाम के साथ परिचय देने की परम्परा आर्यों में रही है । इसी प्रकार अग्नि के सम्बन्ध में कहा जाता है वही प्रमति है और वही पिता है ।

त्वम॑ग्ने॒ प्रम॑ति॒स्त्वं पि॒तासि॑ न॒स् त्वं व॑य॒स्कृत् तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम् ।
सं त्वा॒ राय॑ः श॒तिन॒ः सं स॑ह॒स्रिण॑ः सु॒वीरं॑ यन्ति व्र॒तपा॑मदाभ्य ॥

ऋ० १.३१.१०

इससे पिता और प्रमति दोनों में तादात्म्य उपस्थिति किया जाता है अथवा प्रमति का सम्बन्ध पिता के साथ है । सन्तान पिता के जामि 'तव जामयो वयं'[31] के रूप में है अथवा 'आपि'[32] (बन्धु) के रूप में है । यही नहीं वरन् दिन प्रतिदिन शिक्षा प्राप्त करते हुये पुत्र, पिता के द्वारा महनीयता की उपलब्धि करता है[33]।

ऋग्वेदकालीन समाज में पिता का स्थान वैसे ही प्रतीत होता है जैसे समस्त ब्रह्माण्ड में आकाश । पुत्र के प्रति उसका वात्सल्य, उसकी रक्षा के प्रति उनकी जागरूकता तथा समृद्धि के प्रति उनका सतत् प्रयास उनके सौमनस्य के प्रति उसकी अन्तर्भावना आदि कुछ ऐसे तत्त्व है, जिन्हें हम किसी भी काल की पारिवारिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत महनीयता के रूप में स्वीकार कर सकते हैं ।

ऋग्वेद में पिता और पुत्र के सम्बन्धों की परिचर्चा तो प्रायः दृष्टिगत होती है किन्तु पिता और पुत्री के सम्बन्धों पर बहुत कम सन्दर्भ मिलते हैं, जो भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनको देवशास्त्रीय अवगुण्ठन में इस प्रकार आवृत किया गया है जिससे कि उसको समझ पाना कठिन है । सूर्य और उषस् का सम्बन्ध अथवा प्रजापति तथा उषस् का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार वर्णित है, जिसमें पिता और पुत्रों के सम्बन्धों का सङ्केत मिलता है ।

मानवीय सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति अकेला है, उन्हीं के मानसी सृष्टि के रूप में उषा, सूर्या, अथवा श्रद्धा का संदर्भ निहित है जिसमें स्वयं प्रजापति रेतस् का आधान कर सृष्टि का आरम्भ करते हैं ।

ऋ० ३.३१.१ में पिता पुत्री के सम्बन्धों का आदर्श विवेचन है । पिता पुत्री को पुत्रवत् एवं नप्ता को भी पुत्रवत् मानता था । इसके पूर्व अंश में यह कहा गया है कि अग्नि ने अपने दुहितृ के नप्ता (नाती) के लिये, विद्वानों ने जामाता की पूजा की किन्तु ऋ० ३.३१.२ से संकेत मिलता है कि दुहिता का पुत्र, पुत्र न होकर नप्ता या दौहितृ ही बनेगा । किन्तु पुत्र की कामना से जब पिता अपनी दुहिता में रेतस् के आधान का प्रसाधन करेगा या उसे जामाता को समर्पित करेगा तो वह दैहितृ भी उसके पुत्र के रूप में मान्य होगा । इस अंश पर धर्मशास्त्रकारों ने अनेक चर्चाएँ भी की है । वशिष्ठ का कथन है कि पुत्रहीन जो पिता अपनी पुत्री को दूसरे के कुल में देता है वह वहित्र कहलाता है[३४] । उस कन्या के द्वारा उत्पन्न पुत्र उसका अपना पुत्र होता है क्योंकि कन्यादान के समय वह प्रतिज्ञा करता था कि[३५] —

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति — वशिष्ठस्मृति १७.१७

यास्क का कथन है कि — "प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्र- भावं। दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा । नप्तारमुपागमद्दौहित्रं पौत्रमिति । विद्वान्प्रजननयज्ञस्य रेतसो वाङ्गादङ्गात्संभूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन् । निरुक्त ३.४ ।

सन्तान कर्म के लिये दुहिता के पुत्र को ही पुत्र भाव में स्वीकार करने वाला बह्नि कहलाता है ।

ऋग्वैदिक सृष्टि के उद्भव और विकास का प्रारम्भ हिरण्यगर्भ पुरुष से होता है[३६] जिसमें वह काल पुरुष अथवा प्रथम सृष्टि रूप में है एवं पृथिवी या प्रकृति की सृष्टि उसके पश्चात् है । यहाँ या तो हम यह माने की आकाश और धरती उस परम पुरुष की सृष्टि है । ब्रह्म कालपुरुष या सृष्टि का प्रथम कारक है जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् आदि में कहा गया है या जिसका बीज हमें ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त[३७] में प्राप्त होता है । किसी भी सृष्टि में व्यष्टि का प्रजनन या उसकी उत्पत्ति प्रमुख है और समष्टि या समाज का विकास उसके बाद ।

ऋग्वैदिक समाज में पिता, परिवार का नियन्ता शासक और पालक था। अथर्ववेद का मन्त्र भी इसी बात का उद्घोष करता हुआ मधुमय वाणी की कामना करता है —

अनुंव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भंवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुंमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ अथर्व० ३.३०.२

'पिता के व्रत का पालन करता हुआ पुत्र माता के साथ सौमनस्य वाला होवे। जाया पति के लिए मधुमती एवं शान्तिमय वाणी बोले' इसीलिए पुत्र, माता-पिता के चित्त को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करता है जिससे वह समृद्ध हो सके[३८]।

यह अनुकूलता तो उसे पिता के द्वारा गर्भ से ही प्राप्त होती है क्योंकि एक मन्त्र में कहा गया है कि पिता के प्राण ही माता के गर्भ रूप में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार उस गर्भ के विकास के बाद और जन्म के अवान्तरकाल में व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह प्रधानत: उसके पिता की देन होती है। इसलिए पिता ही नही वरन् पिता के पूर्वजों का भी योगदान स्वीकार करते हुये जीवन में समस्त प्रकार के कल्याण की कामना की जाती है.। इस प्रकार का सौमनस्य भारतीय पारिवारिक व्यवस्था का मूल बिन्दु है जहाँ से यह निरन्तर विकास को प्राप्त होती रही है।

सृष्टि की कल्पना आकाश और पृथिवी, पुरुष और प्रकृति, ब्रह्मन् और माया की अवधारणा से व्याप्त है। जिनके मिथुनीकरण के माध्यम से सृष्टि का विकास होता है, उसी प्रकार इस सृष्टि के विकास में हम उस मिथुनीकरण के परिणाम की महत्ता पर भी ध्यान देते हैं, उसका परिणाम है सृष्टि का प्रारम्भ और उस सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजा की सृष्टि। इसलिए ऋग्वेद में प्राय: हम यह देखते हैं कि ऋषि अपनी समृद्धि के अन्तर्गत प्रजा और पशु से युक्त धन की कामना करते हैं। प्रजा की इस कामना के अन्तर्गत पुत्र कामना सर्वोपरि है क्योंकि उसी माध्यम से वंश-तन्तु का विस्तार होता है। वंशतन्तु का विच्छेदन होने पर मानवीय सृष्टि का विकास क्रम में व्यवधान हो सकता है। यह कामना इसलिए भी है कि पुत्र अपने पिता के नाम एवं उसकी आत्मा को आकाश में प्राप्त स्थान में सन्निहित करता है या स्वर्गलोक में उसकी स्थापना करता है[४०]।

संभवत: ऋग्वेद की इसी अवधारणा को ध्यान में रखकर अवान्तरकाल में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में की गयी है 'पुन्नाम्नो त्रायते इति[३९] नरक से त्राण अथवा स्वर्ग की प्राप्ति जीवन के चरमोत्कर्ष के रूप में प्राचीन काल से ही स्वीकार किये गये हैं। इसलिए जो इस चरमोत्कर्ष की प्राप्ति में सहायक बने उसे ही सर्वप्रिय वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है।

ऋग्वेद में माता-पिता की पुत्र के प्रति वात्सल्य की स्पष्ट झलक मिलती है। जैसे एक मन्त्र में अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि अग्नि को अपने समीप उसी प्रकार स्थापित करो जैसे कि पिता के समीप उसका अत्यन्त प्रिय पुत्र उपस्थित होता है[४०]। पुत्र की इसी प्रियता ने उसे इतना महत्त्वपूर्ण बना दिया है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में 'वीरवन्तं रयिम्' वाक्यांश का शैलीगत आवर्तन[४१] इतना अधिक हुआ है कि ऋषियों

की सम्पूर्ण कामनाओं में इसे सबसे बड़ी कामना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यही नही वरन् यज्ञ इत्यादि में ऋषिगण यह भी कामना करते हैं कि वे अपने पुत्र पौत्रादि के सहित निरन्तर देवताओं का आह्वान करें जिसे हम 'सुवीरासो विदथमावदेम' जैसे शैलीगत आवर्तन के अन्तर्गत ले सकते हैं। यह बात केवल मानवीय धरातल पर ही सीमित नही है वरन् देवताओं को भी किसी न किसी के पुत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे कि ऋग्वेद के एक मन्त्र में देवताओं को संबोधित करते हुये यह कहा गया है कि वे दिव्य स्थानों में निवास करते हुए समस्त देवता गण जो अमृत के पुत्र है हमारा आह्वान सुनें।[४२]

ऋग्वेद में ऐसे बहुत से सन्दर्भ हैं जहाँ गृह के अन्तर्गत पुत्र के वर्तमान होने से उस गृह की रमणीयता की ओर संकेत किया गया है। एक मन्त्र में कहा गया है कि पुत्र के उत्पन्न होने से घर रमणीय हो जाता है और धन या शक्ति से प्रजायें प्रसन्न होती हैं[४३]। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में पुत्र का जन्म बहुत ही शुभ और आनन्दमयी माना जाता था। इसीलिए अग्नि को वेदी में स्थापित करते हुये उसे हवि प्रदान कर प्रज्वलित किया जाता है तो उसके प्रज्वलन में ऋषि उसी आनन्द की अनुभूति करते है जिस आनन्द की अनुभूति पिता अपने पुत्र के उत्पन्न होने से करता है[४४] क्योंकि उस पुत्र के उत्पन्न होने से पिता अपने वंश का विस्तार ही नहीं देख रहा है वरन् अपने कार्यों के सातत्य की भी कल्पना करता है। पिता, पुत्र का भरण-पोषण करते हुये उसे निरन्तर आगे बढ़ाता है जिससे कि कार्य व्यापार में कुशल हो सके और पिता के समान ही दक्ष हो सके।

ऋग्वेद में कहा गया है कि दक्षता वाले पुत्रगण पिता के समान ही देवताओं का आह्वान करते हैं[४५]। पुत्रगण पिता के कर्मों का विस्तार करते हैं, उनके कर्मों में वे भागीदार बनते हैं[४६]। यही नही उनकी समस्त सम्पत्ति का भागीदार पुत्र होता है[४७]।

ऋग्वेद में औरस् पुत्र की महत्ता विशेष रूप से वर्णित है। अनेक मन्त्रों में औरस् पुत्र सम्बन्धी संकेत प्राप्त होते हैं। मन्त्रों में देवताओं से बार-बार कामना की जाती है कि वे हमें अनेक पुत्रों से युक्त करें। अदिति के सम्बन्ध में जब यह कहा गया कि उसके आठ पुत्र उत्पन्न हुये तो उसमें मन्त्र संख्या की बात नही वरन् उनकी अपनी-अपनी विशेषताओं का भी संकेत है[४८]। पुत्र राहित्य होने पर यज्ञ सम्बन्धी जो भी विधान हैं उनमें पिता किसी अन्य को अधिकार नही दे सकता था। इसीलिए एक मन्त्र में अग्नि से कामना की गयी है कि वे हमें अनेक पुत्रों और धन को प्रदान करें[४९]।

पिता पुत्र के सम्बन्धों में हम गुरु शिष्य की परम्पराओं को भी ग्रहण कर सकते हैं। पिता ही प्रायः पुत्र के गुरु या शिक्षक के रूप में कार्य करता था। वैदिक काल

में शिक्षा की कुछ सीमाएँ थी जिसमें श्रुति परम्परा द्वारा वेदाध्ययन शिक्षा के मुख्य अंग के रूप में था। वेदाध्ययन का यह कार्य पिता पुत्र साथ-साथ करते थे क्योंकि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इस बात की चर्चा अथवा प्रार्थनाएँ है कि हम यज्ञ स्थल पर, अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ देवताओं का यशोगान करें। यह समवेत यशोगान तभी हो सकता है जब पिता के साथ पुत्र भी उसी के साथ मिलकर वेदपाठ करें। इस प्रकार ऐसे सन्दर्भों से हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पिता पुत्र के सम्बन्धों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी ऋग्वेद काल से ही प्रारम्भ हुआ। इसलिए ऋग्वेद में जो गोत्र मण्डल की परम्पराएँ है, उस परम्परा में ऋषियों के शिष्यों का मुख्य स्थान है। इन्हीं परम्पराओं से गोत्र परम्परा का भी विकास हमें दृष्टिगत होता है।

यजुर्वेद में भी इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि पिता अपनी सम्पत्ति, घर, धन आदि पुत्रों में विभाजित करता है या पुत्र को प्रदान करता है और अपनी समस्तशक्ति का उनमें आह्वान करता है। एक सन्दर्भ में कहा गया है —

पुत्रेभ्यंः पितरस्तस्य वस्वः प्रयंच्छत त इहोर्जं दधात् (यजुर्वेद- १९.६३)

यदि दो पुत्रों में आपस में सम्पत्ति के विभाजन के कारण युद्ध हो जाय तो पिता वहाँ मध्यस्थता भी करता है। काठक संहिता के एक मन्त्र में कहा गया है कि यदि दो पुत्र परस्पर युद्ध करते है तो पिता अपने भाग या हिस्से के द्वारा लोक में उन्हें शान्त करता है[५०]। इसका तात्पर्य यह है कि युद्ध संभवतः सम्पत्ति को लेकर प्रारम्भ होता था जिसमें पिता अपनी मध्यस्थता के द्वारा अपनी सम्पत्ति प्रदान करके उनके युद्ध का शमन करता है किन्तु इस सम्पत्ति का बटवारा बहुत प्रारम्भिक काल में नहीं होता था। अधिकांश सन्दर्भों में पिता-पुत्र और पौत्र की एक साथ चर्चा है जिससे सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्था का स्पष्ट संकेत मिलता है। धर्म अथवा यज्ञीय कर्मों का परम्परागत अधिकार पुत्र को ही प्राप्त कराया जाता है। ऋग्वेद[५१] में औरस् पुत्र न होने पर यज्ञीय कर्मों का विस्तार नहीं किया जा सकता है। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर सूर्या सूक्त में यह प्रार्थना की गयी है कि वह वधू को सौभाग्यवती बनाकर उसे अच्छे पुत्रों से युक्त करे। दश पुत्रों की बात कही गयी है[५२]। इन्हीं पुत्रों के माध्यम से गृह में स्वामित्व का विस्तार होता है और यही स्वामित्व पारिवारिक संस्था का प्राण है क्योंकि इसके विस्तार के बिना पारिवारिक संस्था का विस्तार नही हो सकता और परिवार के विकास के बिना सामाजिक संरचना की कल्पना नहीं की जा सकती है। ऋग्वेद में सोम की तुलना इसी स्वामित्व के सन्दर्भ में की गयी है। पुत्र के साथ उसी के समकक्ष पौत्र की भी कल्पना की गई है एवं उसे हम ऋग्वेद में 'नप्ता' के

रूप में देखते है[५३] । यहीं से हमे वंशपरम्परा के अधिकारों की भी सूचना प्राप्त होती है। जो परम्परया एक दूसरे के प्रति हस्तान्तरित होती रहती है । यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वंश परम्परा में अधिकारों का चयन प्राय: ज्येष्ठ पुत्र के साथ सम्बद्ध होता है । यद्यपि ऋग्वेद में पुत्र के साथ कहीं भी ज्येष्ठ शब्द का सम्बन्ध नहीं है । किन्तु ज्येष्ठ या कनिष्ठ अथवा कनीयान् (ऋ० १.८४.४) शब्दों के प्रयोग ही इस बात के द्योतक हैं कि कि वैदिक ऋषिगण बड़े छोटों के अधिकारों के प्रति निरन्तर सजग रहे हैं । यदि ऐसी प्रथा न होती तो ज्येष्ठ या कनीयान् शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों पड़ती । इसलिए हमको यह मानकर चलना चाहिए की पुत्रों के अधिकारों में जो ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार सर्वोपरि था और इन्हीं की परम्परा अवान्तरकाल तक चलती रही ।

वंश परम्परा के विस्तार के लिए हवि प्रदान करते है[५४] जिससे वंश परम्परा का सतत् प्रवाह बना रहे और उसमें अवच्छेदन न हो । पुत्र, प्रपौत्र दोनों की उपस्थित इस बात का संकेत है कि सम्पत्ति का हस्तान्तरण प्राकृतिक रूप से होता चला जाता है। इसमें पुत्री का स्थान दृष्टिगत नहीं होता है । सम्पत्ति का हस्तान्तरण स्वाभाविक रूप से होता चला जाये इसीलिए प्रार्थना की जाती है कि पुत्र की उत्पत्ति हो । यजुर्वेद में उल्लेख है कि देवताओं के आशीर्वाद से दम्पति को पुत्र की प्राप्ति होती है। जिससे कि वह उनकी समस्त सम्पत्ति को ग्रहण करें ।[५५]

इस प्रकार पिता-पुत्र के सम्बन्धों में मात्र स्नेह वात्सल्य जैसी बातें ही समाहित नही हैं वरन् उनके साथ वंश परम्परा की वृद्धि, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदि का समन्वय भी साथ-साथ दृष्टिगत होता है । सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध की चर्चा में पुत्रों के बाहुल्य की भी चर्चा कर देना आवश्यक है । ऋग्वेद से लेकर उत्तरवैदिककाल तक पुत्र के बहुवचनान्त रूप इस बात के द्योतक हैं कि उस काल के समाज में पुत्रों की अधिक से अधिक संख्या की कामना की जाती थी । ऋग्वेद का मन्त्रांश 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति'[५६] इस बात का द्योतक है कि पुत्र भी पिता के रहते ही स्वयं पिता बन जाते थे अथवा पुत्रगण पिता के पालक रूप में माने जाते थे । काठक संहिता का एक सन्दर्भ इस बात की ओर संकेत करता है कि जो हजार-हजार पुत्रों को प्राप्त करता है वह ब्रह्माण्ड तक अपना विस्तार करता चला जाता है[५७] । इस प्रकार अनेक सन्दर्भों में पुत्रों के बाहुल्य की चर्चा है[५८] किन्तु इस बाहुल्य के साथ यह कामना की जाती थी कि जो भी पुत्र उत्पन्न हों वे रूपवान् हों[५९] एवं सभी प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त करें[६०]। इस प्रकार इस बाहुल्य में भी समृद्धि की कामना पिता-पुत्र के सौमनस्य की ओर इंगित करता है ।

इसी विचारधारा का विकास आश्वलायन-श्रौतसूत्र के कथन में भी प्राप्त होता है। वहाँ 'आत्मा वै जायते पुत्रः' कहा गया है। इस प्रकार पुत्र के प्रति स्नेह, वात्सल्य, अथवा प्रियत्व का भाव मानवीय जीवन में ही नहीं वरन् प्राणि मात्र में दृष्टिगत होता है इसीलिए श्रेय की प्राप्ति के लिए पिता स्वयं अपने श्रेयस् की भी कामना करता है।

मातृ सम्बन्धी अवधारणा

मातृ शब्द की अवधारणा संस्कृत के मा धातु से मापने अथवा निर्माण करने के साथ सम्बद्ध की जाती है। 'निर्माण करना' अर्थ मातृ शब्द के साथ निरन्तर संलग्न है। सृष्टि की धात्री एवं पोषयित्री के रूप में मातृ सृष्टि का मूल है। ऋग्वेद में अदिति की अवधारणा इस सृष्टिकर्त्री के साथ जुड़ी हुई है। जिसे हम देवमाता के रूप में जानते हैं और जिसके सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि वही आकाश और द्युलोक है, वही माता एवं पिता है, वही पुत्र और सब कुछ है[६१]। अदिति की यह व्यापक अवधारणा और उसका विश्व स्वरूप माता के साथ सम्बद्ध होकर मातृ शब्द को और अधिक महनीयता प्रदान करता है।

सृष्टि की प्रक्रिया का जो भी प्रारम्भ है वही मूलतः प्रकृति और पुरुष के साथ सम्बद्ध है। जिसमें पुरुष या ब्रह्म की कल्पना के साथ उसकी शक्ति जुड़ी हुई है जिसके माध्यम से सृष्टि का विस्तार हुआ। इसी युगलजन्य सृष्टि को हम भारतीय दार्शनिक विचार परम्परा की सभी विधाओं में भी देखते हैं। जिसकी संगति हमें समस्त भारतीय सृष्टि में दृष्टिगत होती है। यही विचारधारा वेदकालीन यज्ञ प्रक्रिया के अन्तर्गत भी दृष्टिगत होती है। वहाँ अग्नि रेतस् रूप में सृष्टि के बीज रूप में है और समस्त सृष्टि की निर्माणकर्त्री मातृस्वरूपा है। इन्हीं दोनों के माध्यम से यज्ञ प्रक्रिया का आरम्भ होता है जो समस्त सृष्टि की अनुकरणात्मक वृत्ति के रूप में है।

ऋग्वेद में मातृ सम्बन्धी अवधारणा को हम पृथिवी के साथ संलग्न पाते हैं। जिसे हम द्यावापृथिवी या रोदसी के युग्म या मिथुनीकरण के रूप में देखते हैं। द्यौस् या आकाश, पितृ रूप में है तो पृथिवी माता के रूप में, इन दोनों के मिथुनीकरण की यह प्रक्रिया सृष्टि का मूल है[६२]। इसी मिथुनीकरण के अन्तर्गत जहाँ हम पृथिवी को आकाश के पूरक रूप में देखते हैं वही माता को पिता के पूरक रूप में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ऋग्वैदिक सामाजिक व्यवस्था में माता-पिता एक दूसरे के पूरक रूप में मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ करते हैं। सृष्टि की यह प्रारम्भिक स्थिति मातृ-स्वरूपा पृथिवी के साथ संलग्न है। जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि आकाश के साथ

वह सत्य स्वरूपा है[६३] तथा पितृ स्वरूप आकाश के साथ मातृ स्वरूप होकर, निवास करती है[६४]। इन्द्र, सोम जहाँ पितृ स्वरूप आकाश का स्तम्भन करते हैं वहीं मातृ स्वरूपा पृथिवी को वे प्रथित (फैलाते) करते हैं[६५]। यह धरती केवल विस्तीर्ण ही नही है वरन् सबके लिए सुखकारी तथा युवती के समान कोमल वस्त्रवाली होकर कौशल से युक्त रक्षा प्रदान करती है[६६]। इसीलिए उसके समीप लोग ऐसे समर्पण करते हैं जैसे माता की गोद में किया जाता है। इस प्रकार माता की अवधारणा पृथिवी के साथ सम्बद्ध होकर उसमें अनेक गुणों का संधान करती है। माता केवल अपने सन्तान की जननी नहीं है वरन् उसकी पालनकर्त्री एवं पोषणकर्त्री भी है। जहाँ वह युवती के रूप में अपने दाक्षिण्य का प्रदर्शन करती है वही कोमलांगी अंगना के रूप में अपने पति की सहगामिनी एवं सुखदायिनी बनती है। अपनी सन्तानों के प्रति उसका वात्सल्य भाव उसको वैसे ही धात्री का रूप प्रदान करता है जैसे कि धेनु अपने वत्स के प्रति करती है[६७]। जैसे गौ अपने बछड़े को दूध पिलाकर उसके अन्तर्गत बल, वर्चस् एवं ओजस् का आधान करती है और उसे सम्पन्न कर ओजस्विता प्रदान करती है[६८]। जैसे गौ अपने वत्स के प्रति वात्सल्य पूर्ण होकर उसे चाहती है और वत्स पवित्र मन से उसे चाहता है तथा इस प्रकार दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अनन्त प्रेम का स्वरूप ग्रहण करता है वैसे ही मानवीय धरातल पर माता और पुत्र का परस्पर सम्बन्ध मन की पवित्रता की अनन्त सीमाओं को स्पर्श करता है[६९]।

गर्भाधान के बाद माता का धात्री रूप प्रारम्भ हो जाता है। नौ मास तक गर्भ के अन्तर्गत शयन करता हुआ पुत्र अक्षत् रूप में बाहर आकर पुनः उस माता के भरण-पोषण का भाजन बनता है और माता उसका पोषण करती हुयी स्वयं आनन्दित होती है[७०]। गर्भ से उत्पन्न हुआ बालक माता के लिए क्रन्दन करता है और माता अपना वात्सल्य प्रदान करती हुई निरन्तर उसके वर्धन की कामना एवं यत्न करती है[७१]। वह धीरे-धीरे उसे कर्म में संलग्न करती है और स्वयं उसको वर्धित करती हुई उसके लिए वस्त्रादि बुनती है।

वि त॑न्वते धियो॑ अस्मा॒ अपां॑सि॒ वस्त्रा॑ पु॒त्राय॑ मा॒तरो॑ वयन्ति ऋ० ५.४७.६

माँ के गर्भ से उत्पन्न होने पर बालक माँ के लिए ही नही, समस्त समाज के लिए शुभ, सौन्दर्य, कल्याण एवं दीप्ति का दायक होता है। ऋ० नवम मण्डल में सोम के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह माता से शुचि रूप में उत्पन्न होकर प्रकाशित होता है और धरती को संवर्धित करता है[७२]। सोम का यह रूप किसी भी बालक के जन्म की वैदिक कल्पना को स्पष्ट कर सकता है। प्रत्येक माँ की यह कामना होती

है कि उसे सुन्दर पुत्र प्राप्त हो और तेजस् युक्त होकर धरती पर संवर्धित हो एवं चारों ओर उसका यश विस्तीर्ण हो ।

अग्नि के सम्बन्ध में एक मन्त्र में कहा गया है कि वह पवित्र करने वाले वर्चस् से युक्त, तीव्र वर्चस् वाला, बहुत तेज से युक्त तथा किरणों से युक्त होकर उदित होता है और अपनी माता की गोद में विचरण करता हुआ आकाश और पृथिवी को प्रकाश से भर देता है[७३] । माता के साथ विचरण करता हुआ पुत्र मात्र उसके वात्सल्य को ही नही ग्रहण करता वरन् उसके अपने जीवन में प्रतिक्षण संवर्धित होने के लिए वह शिक्षा भी प्राप्त करता है । माता उसके जीवन का हर प्रकार से विस्तार करती है और माता के साथ प्रकाशित होता हुआ वह स्वयं माता-पिता के यश का विस्तार करता है । ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भ मातृ बाहुल्य की ओर संकेत करते हैं । जिसमें एक से अधिक माताओं के होने की बात स्पष्ट होती है । इस स्थिति के दो ही रूप हो सकते है या तो हम यह कहें कि एक पुत्र एक से अधिक माताओं / धात्रियों द्वारा पोषित होता है और पोषित करने वाली सभी मातृ स्वरूपा होती हैं अथवा इसे हम बहुपत्नी प्रथा के रूप में स्वीकार कर मातृ बाहुल्य को स्वीकार कर सकते हैं एवं वास्तविक माता एक होने पर भी परिवार में अनेक माताओं की स्थिति स्वीकार कर सकते है ।

भारत में प्राचीनकाल से लेकर आज तक बहुपत्नीवाद (Polygamy) और एक पत्नी के अनेक पति (Polyandry), बहुपति प्रथा प्रचलित रही है[७४] । इसलिये मातृ बाहुल्य की जो कल्पना ऋग्वेद में प्राप्त होती है वह उक्त सामाजिक प्रथा की स्मृति कही जा सकती है । यद्यपि यह कल्पना देवताओं के सम्बन्ध में है फिर भी उसे हम सामाजिक सम्बन्धों के साथ युक्त कर दें तो उस काल की पारिवारिक संस्था के रूप में स्वीकार कर सकते हैं ।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'सप्त शिवास मातृषु' सन्दर्भ आया है जहाँ प्रिय पुत्र रूप अग्नि सात लोकों की कल्याणकारी वृष्टिरूपी मातृकाओं के गोद में शयन करता हुआ कहा गया है । ऋक् ९.७०.४ 'प्रमध्यमासु मातृषु' में अन्तरिक्षस्थ विद्युदग्नि की माता होने की बात भी पुष्ट होती है । पृथिवी पर वेदि-रूपा माँ, अन्तरिक्ष में वृष्टि, द्युलोक में सूर्य आदि मातृकाओं के रूप में हैं जो किसी न किसी रूप में अग्नि का पोषण करती हैं । लोक में जन्मदात्री माँ, धात्री माँ और अन्य प्रकार से लालन-पालन और पोषण करने वाली मातायें हो सकती हैं । एक पिता की बहुपत्नियाँ एक ही माता से उत्पन्न पुत्रों का अनेक रूपों में पालन कर सकती हैं । इन सन्दर्भों को हम औषधियों और आप: देवियों के साथ जोड़े तो कुछ और रोचक तत्त्वों की जानकारी होगी । औषधियाँ अग्नि को गर्भरूप में धारण करती हैं और आप: देवियाँ उसे उत्पन्न करती हैं । वह

अग्नि गर्भधात्री औषधियाँ और अन्तर्वासी आप: देवियों के मध्य समान रूप से उत्पन्न होता है[७५]। तात्पर्य यह है कि गर्भ धारण करने वाली माताएँ स्वयं उसका पोषण नही करती जब तक दूसरी माताएँ सहायता न करें। औषधियाँ अग्नि को गर्भ रूप में धारण करती हैं किन्तु आप: देवियाँ जल वर्षा न करें तो वह उसका संवर्धन नही कर सकती। इसलिए संवर्धन में सहायक अन्य का भी योगदान समान ही मानना चाहिए।

माता एवं पुत्री सम्बन्धों का ऋग्वेद में नितान्त अभाव है। ऋग्वेद में पुत्री के लिए दुहिता शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है[७६] और प्राय: सन्दर्भों में अधिकांशत: 'सूर्यो दुहिता या दिवो दुहिता या सूर्यस्य दुहिता' के रूप में उषा देवी की प्रार्थना है। किन्तु उससे उसके प्रियत्व की कल्पना की जाती है। इन सन्दर्भों में पिता-पुत्री के सन्दर्भों पर ही प्रकाश पड़ता है और पुत्री का माता के साथ कोई सम्बन्ध दृष्टिगत नही होता है।

ऋग्वेद में मात्र तीन सम्बन्ध ऐसे है जहाँ माँ के साथ पुत्री की चर्चा है। ऋग्वेद तृतीय मण्डल के एक मन्त्र में[७७] माता और दुहिता शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। जहाँ मातृ स्वरूपा पृथिवी और दुहितृ रूपा द्यौ दोनो आकाश या अन्तरिक्ष में वर्तमान हैं तथा अन्न एवं जल से सृष्टि को अमृत प्रदान करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार के पोषण में दुहिता सदा माता की अनुवर्तिनी होती थी तथा पारिवारिक कार्यों को माता के समान ही निर्वहण करती थी।

इस प्रकार माता, दुहिता के पारस्परिक सम्बन्ध समान स्तर पर प्रतीत होते हैं। एक और अन्य सन्दर्भ में माता और दुहिता शब्द का प्रयोग गौ के रूप में हुआ है वहाँ गौ रूद्रों की माँ, वसुओं की दुहिता और आदित्यों की स्वसा है, इससे दोनों के सम्पूर्ण नारीत्व की कल्पना दृष्टिगत होती है। जिसके अन्तर्गत माता, पुत्री और स्वसा तीनों के गुण विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक दुहिता किसी न किसी की स्वसा, और किसी न किसी की माता है।

अत: नारी के मौलिक गुणों से सम्पन्न हर दुहिता मातृ स्वरूपा है। ऋग्वेद के दशम-मण्डल के एक सन्दर्भ में शचि, देवता के रूप में है। वह अपने सम्बन्ध में स्वयं ही प्रकाश डालती है[७८] जिसमें वह अपने पति, पुत्र, दुहिता, आदि के सम्बन्ध में वर्णन करती है। अपने पुत्रों के सम्बन्ध में वह कहती है कि वे शत्रुओं का हनन करने वाले हैं और उसकी दुहिता विराट रूप है — 'ममपुत्रा: शत्रुहणो ऽथो मे दुहिता विराट्' यहाँ दुहिता के लिये विराट शब्द का प्रयोग, दुहिता के विराट स्वरूप और उसके सौन्दर्य एवं तेजस्विता को व्यक्त करता है। इस प्रकार दुहिता के शुभत्व एवं परिवार में उसके सम्मानित स्वरूप का परिचय मिलता है।

पत्ति की अवधारणा

सम्पूर्ण सृष्टि में नर-नारी सम्बन्ध, सृष्टि के विकास के प्रथम सोपान के रूप में हैं। सृष्टि सम्बन्धी विचारधारा के अन्तर्गत जैसे ही प्रजापति अथवा मन रूपी पुरुष की सृष्टि हुई वैसे ही उसकी कामना ने नारी का रूप धारण कर अपनी सूक्ष्म अवस्थाओं के द्वारा एक सर्वथा विरोधी किन्तु पूरक तत्त्व को जन्म दिया। यही पूरक तत्त्व प्रकृति, वाक्, श्रद्धा, कामना आदि अनेक नामों से नारी रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। जिससे पुरुष और प्रकृति, मन और वाक्, हृदय और श्रद्धा, आदि जैसे पारस्परिक युग्मों पर मिथुन की कल्पना उद्भूत हुई। इसी को हम युग्मवादी विचारधारा के रूप में जानते हैं जो विश्व के विभिन्न भागों में प्राप्त होती है। यह द्वैत भावना विश्व की सामाजिक संरचना में भी सर्वत्र व्याप्त है। जैसे ही हम ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना करते हैं वैसे ही उसके साथ आत्मा या माया की कल्पना उद्भूत होती है। सृष्टि के विकास के लिए दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। समस्त प्रकृति में जीवन, समाज और व्यष्टि का मिथुन भाव या द्वन्द्व भाग दृष्टिगत होता है। शतपथ ब्राह्मण में द्वयं च जैसी ध्वनियों की निरन्तर आवृत्ति होती है[७९]। वहाँ भी इसी द्वन्द्वात्मक सृष्टि की कल्पना की गयी है। इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि के अन्तर्गत एक दूसरे के पूरक रूप में पुरुष और नारी की निरन्तर कल्पनाएँ प्राप्त होती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् का यह कथन कि सृष्टि के प्रारम्भ में व्यक्ति के रूप में आत्मा ही की स्थिति थी जिसने अपने द्विधा रूप की कल्पना की, जिससे पुरुष और नारी की उत्पत्ति हुई जो एक साथ जुड़े हुये थे और उसने स्वयं अपने आप को द्विधा विभक्त किया। उसी ने सृष्टि करने की कामना की। जब तक पुरुष नारी को या नारी पुरुष को नहीं प्राप्त कर लेती तब तक अपूर्ण[८०] है।

ऋग्वेद में अनेक देवताओं का युग्म या अहोरात्र की कल्पना इसी युग्म भाव का प्रतीक है। द्यावा पृथिवी की कल्पना, अहोरात्र की कल्पना, समस्त ब्रह्माण्ड को इसी भाव से युक्त करती है।

उपर्युक्त युग्म की कल्पना के अन्तर्गत मात्र मिथुनीकरण की कल्पना की जाती है। वरन् उनके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से परस्पर एकत्व की भावना भी उद्भूत होती है। यही रक्षा कर्म पति-पत्नी के शाब्दिक शब्दों के अन्तर्गत निहित है। इन दोनों शब्दों में पत् धातु पालन करने अथवा रक्षा करने के अर्थ में है। जिससे परस्पर पालन भाव अथवा रक्षकत्व की सृष्टि होती है। धीरे-धीरे यही पालन अथवा रक्षा का भाव स्वामित्व की ओर विकसित होता है।

जब ऋग्वेद में अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'गृहपतिश्च नो दमे' तो वहाँ अग्नि मात्र हमारे गृह पालक के रूप ही नहीं वरन् स्वामी के रूप में भी हैं।

इसी प्रकार सूर्या विवाह सूक्त के अन्तर्गत जब यह कामना की जाती है — 'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो' कि वधू गृह की पत्नी हो तो वहाँ पालन करने के भाव के साथ-साथ उसके गृहस्वामिनी होने का भाव भी निहित है। इन सन्दर्भों से इतना सङ्केत मिल ही जाता है कि जहाँ वे एक दूसरे के रक्षक और पालक के रूप में हैं वहीं उनका पारस्परिक स्वामित्व का भी बोध होता है।

ऋग्वेद में पति शब्द का प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों में अनेक रूप एवं अर्थों में किया गया है। अनेक देवताओं से सम्बन्धित सन्दर्भों तथा उनके विभिन्न वस्तुओं के साथ पारस्परिक सम्बन्धों के योग में पति शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे जब इन्द्र को 'राधानां पते'[८१] के रूप में सम्बोधित किया जाता है तो वहाँ पर वह मात्र हवियों का स्वामी है और जब वह 'वाजानां पते'[८२] के रूप में सम्बोधित किया जाता है तो वहाँ वह अनेक शक्तियों का स्वामी है जो किसी भी वस्तु की उत्पादकता को बोधित करती है। इसी प्रकार 'क्षेत्रस्यपति'[८३] 'उर्जां पते'[८४] इत्यादि रूप में व्यक्त किया गया है। इन समस्त सन्दर्भों में इन्द्र का स्वामित्व या पालकत्व द्योतित होता है। इसी प्रकार अग्नि आदि अनेक देवताओं के साथ पति शब्द का प्रयोग उनके पालन या रक्षण शक्ति का सङ्केत करता है।

ऋग्वेद में पति शब्द का प्रयोग कुछ शब्दों के साथ विशिष्ट नाम बनकर रह गया है — जैसे अग्नि के लिए 'इळस्पति'[८५] या 'ब्रह्मणस्पति'[८६] जैसे शब्दों का प्रयोग विशिष्ट नाम के रूप में है और धीरे-धीरे ब्रह्मणस्पति के साथ एक विशिष्ट देवता का आविर्भाव हुआ जो समस्त ज्ञान-विज्ञान या वाणी के स्वामी रूप में प्रतिष्ठित हुआ। 'ब्रह्मणस्पति' के समान ही 'वास्तोस्पति'[८७] 'शवस्पति'[८८] 'वनस्पति'[८९] शब्दों का प्रयोग धीरे-धीरे विशिष्ट देवताओं के नाम के रूप में प्रतीक हो गया। अश्विनौ के लिये 'शुभस्पती'[९०] विशेषण उनका एक विशिष्ट नाम ही प्रतीत होता है। मित्रावरुणौ के सम्बन्ध में 'सिन्धुपतिः'[९१] का प्रयोग उन पर उनके स्वामित्व का संकेत है। हिरण्यगर्भ पुरुष के साथ 'भूतस्य पति'[९२] का प्रयोग भी इसी अर्थ में है। भूतस्यपति (भूतस्य जातः पतिरेकासीत्) प्रजापति का पर्याय और उसी से समस्त सृष्टि का विकास सम्बद्ध हुआ। इस प्रकार सृष्टि के विकासक्रम में स्वामी, रक्षक या पालक की भूमिका ही सर्वोपरि रही है। नारी-पुरुष के सम्बन्धों में भी यही दृष्टि रही है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में जब यह प्रार्थना की जाती है कि 'सा नो भुतस्य भव्यस्य पत्न्युरं लोकं पृथिवी नः कृणोतु'[९३] तो वहाँ क्षेत्र प्रधान है जो विस्तीर्ण लोकों को प्रदान करने वाली और क्षेत्र की स्वामिनी या पालिका है। यही स्वामिनी या पालिका हमें ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त में वाक् की अवधारणा के अन्तर्गत दृष्टिगत होता है। जहाँ वाक् देवी

अपने आपको भरण पोषण करने वाली होकर 'राष्ट्री संगमनी वसूनां'[९४] के रूप में प्रदर्शित करती है। यहाँ राष्ट्रिय शब्द स्वामिनी या शासनकर्त्री वाग् देवी का अभिधायक है। इस प्रकार एक ओर प्रजापति की अवधारणा समस्त सृष्टि के पालक या उत्पादक के रूप में संलग्न है तो दूसरी ओर अदिति, भूमि, वाग् देवी की अवधारणा उन्हें पत्नी, पालिका या मातृका के रूप में उपस्थित करती है। इस प्रकार सृष्टि के बीजों के वर्णन में हमें पति-पत्नी की अवधारणा की प्रतीति होती है।

पति-पत्नी की अवधारणाओं में दोनों का समान महत्त्व है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पति का महत्त्व पत्नी से अधिक है। समस्त भारोपीय संस्कृति में पुरुष प्रधान समाज का विकास ही इसका कारण प्रतीत होता है जहाँ ऋग्वेद में 'जायाविन्दते पतिम्'[९५] जैसे सन्दर्भ जाया या पत्नी के द्वारा पति की प्राप्ति में पत्नी की महान् उपलब्धि की ओर सङ्केत करते हैं और उपलब्धि में मुख्यतया उपलब्धिकर्त्री को गौण बना देते हैं जिससे की पति की महत्ता बढ़ जाती है। यही बात यम-यमी संवाद के अन्तर्गत यमी के द्वारा व्यक्त विचारों से भी प्रगट होती है। जहाँ वह कहती है कि ऐसे भाई के होते हुये क्या जब उसके रहते ही बहन अनाथ हो जाय[९६]। यह स्थिति नारी की दुर्बलता की नहीं वरन् उसकी अपूर्णता का द्योतक है। जब तक वह किसी रक्षक या साथी को नहीं प्राप्त कर लेती तब तक वह अपूर्ण है और इस अपूर्णता में वह अपने आपको असहाय अकेली और निर्बल अनुभव करती है। इसीलिए वह पति की कामना करती है और यही कामना ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में 'उशती सुवासा:'[९७] के रूप में दृष्टिगत होती है। कहीं भी इस प्रकार का भाव पति के साथ नहीं प्रतीत होता है। ऋग्वेद में हमे पुरुष देवताओं का बाहुल्य मिलता है, यद्यपि वे प्रकृति के विभिन्न शक्तियों के प्रतीक रूप हैं, जहाँ उन्हें शक्ति के प्रतिनिधि होने के कारण नारीत्व के गुणों से मण्डित होना चाहिए था किन्तु ऐसा न होकर पुरुष प्रधान प्रकृति ही मुख्यता को प्राप्त करती है ऐसी स्थिति में पुरुष और नारी का तुलनात्मक स्वरूप हमे पुरुष प्रधान परिवार की ओर आकृष्ट करता है जिसमें पति की प्रधानता है और वह समस्त परिवार का संरक्षक है। सूर्या विवाह सूक्त में सूर्या का वहन किया जाता है और अश्विनौ उसके वाहक हैं। उसके सौभगत्व के लिए पति उसका पाणिग्रहण करता है और गार्हस्थ जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक देवता उसे आशीर्वाद देते हैं। यद्यपि वह श्वसुर, श्वसा, ननदि और देवर के लिए साम्राज्ञी[९८] के रूप में है लेकिन कहीं भी वह पति की साम्राज्ञी नहीं कहीं जाती है। गृह का समस्त साम्राज्य उसके आधिपत्य के अन्तर्गत है किन्तु उस साम्राज्य का अधिपति पति होत है। जिसकी सेवा भावना में रत रहना पत्नी के लिए आवश्यक है[९९]।

ऋग्वेद में पत्नी की इस सेवा भावना की तुलना उस गाय के साथ की गयी है जो अपने वत्स को चाहती हुई अपना वात्सल्य या प्यार प्रकट करती है[१००]। वह अपने पति के अन्तर्गत ही समस्त सुखों का अन्वेषण करती है [१०१]। वह अपने युवा पति की वैसे ही कामना करती है जैसे कि लोग अर्थ की कामना करते हैं[१०२]। कन्याओं को पति का वरण किया जाता है[१०३] । उस वरण कार्य में पति यह कल्पना करता है कि वह अपनी उस पत्नी को वरुण पाश से मुक्त करता है और सत्यलोक में प्रतिष्ठित करते हुये उसके साथ जीवन व्यतीत करने की कामना करता है[१०४] ।

इस प्रकार नारी का पतिवरण उसे अनेक पूर्व बन्धनों से मुक्त कर एक नयी पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करता है । यहाँ उसकी जीवनधारा एक मार्ग की ओर प्रवाहित होती है जिस पर वह निरन्तर पति के साथ संचरण करती हुयी जीवन के नये-नये स्रोत का उद्घाटन करती है जिससे सामाजिक परम्पराओं को बल मिलता है । यही कारण है कि अनेक देवताओं का आह्वान उनकी पत्नियों के साथ किया जाता है कि वे अपनी पत्नियों के साथ यज्ञ में आगमन कर सोमपान करें[१०५] । पत्नी के लिये पति सखा जैसे ही होता है इसीलिए नारी युवा पति का वरण करती है[१०६] और अपनी मधुरवाणी के माध्यम से[१०७] उसे अपने वश में करती है जिससे की दोनों का सखा भाव निरन्तर बना रहे । दोनों का सामीप्य इस सख्य भाव को निरन्तर प्रगाढ़ करता है । पत्नी, पति का आलिङ्गन कर सख्य भाव को दृढ़ करती है[१०८] । समस्त विश्व के धारक सवितृ के सामीप्य की कल्पना पति, पत्नी के सामीप्य का निदर्शन है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार गायें ग्राम की ओर दौड़ती हैं अथवा अपने वत्सों की ओर दौड़ती है वैसे ही, समस्त विश्व का धारक सवितृ देवता अपनी प्रजाओं की ओर गमन करता है तथा वैसे ही पति अपनी जाया की ओर अभिगमन करता है। यहाँ प्रेम वात्सल्य के साथ पाल्यपालक भाव भी उभरता हुआ प्रतीत होता है । पति-पत्नी का भाव मात्र उनके सङ्गमन का नही है वरन् एक दूसंरे के रक्षकत्व का भी बोधक है। इसी पालन, रक्षण, भरण की भावना के कारण पति को भर्त्ता कहा गया है।

पति और भर्त्ता दोनों पालन करने वाले अथवा भरण करने वाले रूप में हैं । पति, पिता, भर्त्ता सभी शब्दों के अन्तर्गत यही अर्थ निहित है । ऋ० के एक मन्त्र में पति, भर्त्ता, पिता सभी शब्दों का प्रयोग उनके मौलिक उद्भव और विकासात्मक प्रक्रियाओं का द्योतक है[१०९] । ऋग्वेद के एक मन्त्र में भ्राता को ही पति रूप में प्रदर्शित किया गया है यद्यपि यहाँ रक्षोहणि अग्नि का सन्दर्भ है जहाँ उसे गर्भदोष निवारण के लिए आहूत किया जाता है तथा कहा जाता है कि रक्षस पोषित 'नारी' के समीप भाई बनकर, पति बनकर, अथवा जार के रूप में गमन कर उसके गर्भ का नाश करता है किन्तु 'यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा'[११०] मन्त्रांश भ्राता और पति के साथ सम्बन्ध का संकेत

करता है जहाँ भ्राता पति भले न बने किन्तु भरण-पोषण करने का भार अवश्य ग्रहण कर सकता है। इसीलिये उसकी भी वही कोटि बन जाती है, बिना भाई के नारी की वही स्थिति मानी जाती है जो बिना पति के होती है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि बिना भाई के जो नारियाँ हैं उनका वही रूप है जो पति से द्वेष करने वाली नारियों का होता है और दोनों स्थितियों में वे पाप, अनृत और असत्य की भागिनी बनती[१११] है। इस प्रकार किसी भी नारी के लिए यह दुर्भाग्य की बात होगी कि वह बिना भाई के हो। यह बात जहाँ एक ओर भाई के महत्त्व को प्रदर्शित करती है वहीं दूसरी ओर पुत्र के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर बल डालती है। इसलिए युग-युगान्तरों से भाई बहिन के युग्मों की भव्य कल्पनाओं का बीज ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त में तत्कालीन अवधारणाओं के साथ देखा जा सकता है।

बहन भाई को पति रूप में वरण न करके किसी अन्य का वरण करती है[११२]। प्रतीची दिशा[११३] (पश्चिमी) बिना सूर्य के भातृ रहित जैसी अशोभन लगती है और प्राची दिशा भातृ युक्त सूर्य के साथ शोभित होती है। उसी दिशा में नवोदित उषा सूर्य के समीप गमन करती है। इसी ऋत के आवरण के अन्तर्गत दोनों की शोभा है। पति-पत्नी का संगमन प्रकृति के व्यापार का अनुगमन है और इन दोनों का सञ्चरण मानवीय जीवन के साफल्य की पराकाष्ठा है। इसी में जीवन की पूर्णता है। और दोनों का अलग होना अथवा अनैतिक सम्बन्ध होना जीवन की अपूर्णता है। नारी द्वारा पति को इस पूर्णता की स्मृति कराना वैसे ही है जैसे वाणी का, सोम को उसकी महनीयता की याद दिलाना है। इन दोनों की स्मृति का साक्ष्य दोनों में गर्भ के आदान का परिचायक है और जब तक यह सम्भावना नहीं बनती तब तक यह अनिंद्य नहीं हो सकते हैं[११४] नारी के लिये एक मात्र स्वामी उसका पति है[११५] इसलिये उसे कभी पति से द्वेष नहीं करना चाहिए[११६]।

ऋग्वेद में बहुपति प्रथा और बहुपत्नी प्रथा दोनों की संभावनाएँ प्रतीत होती हैं किन्तु बहुपति प्रथा की जो भी संभावनाएँ है वे देवताओं के साथ जुड़ी हैं। सूर्या विवाह सूक्त के अन्तर्गत सोम को प्रथम पति और गन्धर्व को दूसरे पति के रूप में व्यक्त किया गया है। अग्नि तीसरे पति के रूप में उपस्थित है और तीनों के पश्चात्, वास्तविक (मानवीय) पति की स्थिति आती है[११७]। इस प्रकार वरण, ग्रहण और साक्षी इन तीनों रूपों में हम तीनों देवताओं की कल्पना कर सकते हैं और अन्तिम या मानवीय पति उसके साथ संगमन करने वाला है। यह वरण, ग्रहण और साक्षी रूप में पति की कल्पना भारत में आज भी कुछ संस्थाओं में प्राप्त होती है। जहाँ पुरोहित को देवता मानकर नवोढा पति के प्रथम पति के रूप में स्वीकार किया जाता है और प्रथम दिन का सहवास पुरोहित को प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में पति–पत्नी होने की और बनने की दो अलग–अलग प्रक्रियाएँ है। कुछ ऐसे पति है जो अनन्त काल से ही पति हैं और कुछ ऐसे है जो होने की कामना करते हैं। सृष्टि की सत्ता के साथ जो अनन्त काल से जुड़े हैं या जिनका इन पर स्वामित्व है उनका प्रत्येक वस्तु पर स्वामित्व हैं जिनमें पत्नियाँ भी सम्मिलित है।[११८] काल के प्रवाह में नाम का परिवर्तन भले ही होता रहे किन्तु सत्तात्मक स्थिति वैसी ही बनी रहती है। यदि हम सोम को कहते हैं कि वह 'पतिर्विश्वस्य भूमनो'[११९] (सम्पूर्ण भूमि का पति) है तो वह भूमा का पति सदैव रहा है और उस सोम के स्थान पर इन्द्र, अग्नि अथवा अन्य किसी भी देवता का स्थान हो सकता है।[१२०]

किन्तु जो अनादि सत्ता है उसके वाचक के रूप में ही उनका नाम परिवर्तन होता है स्थायित्व के रूप में नहीं क्योंकि वह अनादि सत्ता सतत् प्रवहमान है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

विवाह काल में या नारी के वरण के समय सर्व शक्तिमान की सत्ता की स्मृति बनी रहती है और उसे ही प्रथम पालक या रक्षक के रूप में स्वीकार किया जाता है। मानवीय सत्ता चिर स्थायी नहीं है। इसलिए उसको स्थायित्व प्रदान करने के लिए चिरस्थायी सत्ता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है। यही बात नारी के सम्बन्ध में भी है। अदिति अनन्त सत्ता की प्रतीक है बिना उसके सृष्टि सम्भव नहीं, इसलिए वह धारिका है अत: उसकी अनन्त सत्ता को हम नारी के अन्तर्गत स्वीकार कर उसका वरण करते हैं जिससे वह चिरस्थायी भी बन सके। इस प्रकार पति–पत्नी के अन्तर्गत उद्भूत होने वाले सम्बन्धों में अलौकिकता का समावेश है। उसी अलौकिक को लौकिक बनाने के लिए सृष्टि होती है। इस वैवाहिक जीवन में पति–पत्नी दोनों सम्मिलित होकर काल के अनन्त प्रवाह में निरन्तर चलने वाली सृष्टि सम्बन्धी क्रियाओं का वे अनुगमन मात्र करते हैं। जिसमें उस अनन्त सत्ता का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसलिये मानवीय रूप में ऋषिगण किसी न किसी रूप में पति होने की निरन्तर कामना करते हैं।

ऋग्वैदिक ऋषि बार–बार जो यह कामना करते है कि वे पति बने — उसमें वे विश्व की अनेक वस्तुओं, शक्तियों, साधनों आदि पर अधिपत्य की कामना करते हैं। वैसे ही नारी पर भी उनकी, अधिपत्य की कामना है। सोम जब वाचस्पति के रूप में अपने बल के द्वारा समस्त सृष्टि पर स्वामित्व का आरोपण करता है तो वहाँ उसकी शक्ति एवं शौर्य की कल्पना ही महिमा मण्डित होकर उद्भूत होती है। ऐसी स्थितियों में वाणी, समस्त सृष्टि में नारी के प्रतिमान के रूप में उपस्थित होती है और सोम देवता पुरुष रूप में उनका उपभोक्ता या अधिशास्ता है। इस प्रकार नारी के ऊपर

पुरुष का आधिपत्य ही उसे उसके पति पालक या रक्षक के रूप में उपस्थित करता है और उसकी प्रधानता को सामाजिक स्तर पर भी महनीय बना देता है किन्तु यह महनीयता एकांगी बनकर नहीं रह सकती। अत: पत्नी का भी उसमें सम्पूर्ण योगदान है। जब तक शक्ति के रूप में पति के साथ उसका संयोजन नहीं होता तब तक पति अपूर्ण है एवं शक्तिहीन है। इसलिए हम पत्नी को पूरक तत्त्व के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। वेद में जो भी पूरक तत्त्व हैं उनमें आकाश-धरती, माता-पिता, भाई-बहन आदि अनेक पूरक तत्त्वों के साथ पति-पत्नी का विशिष्ट स्थान है जो इन समस्त इकाइयों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार हम धरती की कल्पना बिना आकाश के नहीं कर सकते वैसे ही पति-पत्नी के अन्योन्याश्रय सम्बन्धों की कल्पना हम बिना दोनों को ग्रहण किये हुए नहीं कर सकते हैं।

ऋग्वेद में पति शब्द का सम्बन्ध प्राय: भावात्मक संज्ञाओं के साथ (महस्, वाचस्, दिवस, रायस्, यशस, भवस् ऐसे अनेक शब्द है) सीधे जुड़ा हुआ है। इसकी उत्पत्ति सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में शक्ति या ऊर्जा के साथ मान सकते हैं जहाँ से सृष्टि के सत्तात्मक रूप का विकास होता है वहाँ यह शक्ति केन्द्र बिन्दु के रूप में है। जिसकी परिधि में सम्पूर्ण सृष्टि का आवर्तन होता है और उस आवर्तन में पुरुष की सत्तात्मक स्थिति प्रभावी बनती है। इस प्रकार भावात्मक स्थिति से हम सत्तात्मक स्थिति की ओर संक्रमण करते हैं जिसमें हम शक्ति रूपी केन्द्र बिन्दु को नारी रूप में ग्रहण कर उसको सञ्चालित करने वाले तत्त्व को पुरुष मान लेते हैं और इस प्रकार आकाश और धरती, मन और वाणी, दिन और रात्रि आदि अनेक युग्मों की परिकल्पना में हम पति-पत्नी के साकार रूप को ग्रहण करते हैं और इसमें जो तत्त्व प्रधान है वह है पुरुष और जो गौण है उसे प्रकृति या नारी के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार समस्त सन्दर्भों के अन्तर्गत हम एक विशिष्ट दार्शनिक तत्त्व की सृष्टि देखते है जो पति-पत्नी के अनेक प्रतिमानों के साथ संलग्न प्रतीत होता है।

पति-पत्नी के सम्बन्धों को लेकर ऋग्वेद में कुछ ऐसे सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं जहाँ असमानता के कारण अथवा कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण सम्बन्धों में दरार होती है या जीवन के क्रम में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। उस काल में कुछ ऐसी परम्पराएँ थी जहाँ उच्च वर्गीय समाज अथवा राजागण अपनी युवा कन्याओं को ऋषियों को दान दिया करते थे जिनमें आयु के अधिक अन्तर होने के कारण पति-पत्नी की सामान्य कल्पना करना ही असम्भव हो जाता था। ऐसी स्थितियों में वे कन्याएँ देवताओं से प्रार्थना करती देखी जाती हैं। ऋग्वेद में अश्विनौ सम्बन्धी ऐसे बहुत से आख्यान हैं जिसमें अश्विनौ द्वारा भैषज्य प्रदान करने की बातें कही गयी हैं। घोषा

सम्बन्धी एक आख्यान इसका निदर्शन है जिसके अन्तर्गत अश्विनौ द्वारा घोषा के जीर्ण-शीर्ण पति को यौवन प्रदान करने की बात कही गई है[१२१] । इसी प्रकार च्यवन सम्बन्धी आख्यान भी बहुत प्रसिद्ध है जो वैदिक साहित्य का ही नहीं वरन् उत्तर वैदिक साहित्य में भी प्रसिद्ध है । इसी के साथ कुछ ऐसे सन्दर्भ ग्रहण किये जा सकते हैं जहाँ पति वशीकरण जैसी बातों का संकेत है । ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र में 'उत्तानपरणी' औषधि से प्रार्थना की गयी है कि वह सपत्नी को पराभूत कर प्रार्थना करने वाली को पति की एक मात्र प्रिया बनावे[१२२] । इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जहाँ पति-पत्नी के मध्य सौमनस्य की अनेक स्थितियाँ उद्भूत होती हुई प्रकट होती हैं वही सामाजिक स्तरों पर ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ उनके मध्य तनाव दिखाई देता है । सूर्य से प्रार्थना की गयी है कि वह पति को सदैव हमारे समक्ष अभिभूत करे जिससे कि वह हमारे वश में हो । इन सामाजिक स्थितियों की परम्पराओं का सातत्य उत्तरकालीन वैदिक साहित्य भी में प्राप्त होता है ।

ऋग्वैदिक परम्परा का ही अनुगमन हमें अन्य संहिताओं में भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार पति शब्द के अनेक अर्थ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं । वैसे ही यजुर्वेद में भी पति शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में दृष्टिगत होता है[१२३] । जैसे ब्रह्मणस्पति, मनस्पति, क्षेत्रस्यपति आदि सामासिक पद ऋग्वेद की परम्पराओं का अनुगमन करते हैं । जहाँ पति शब्द रक्षक, धारक, स्वामी अधिकारी आदि अनेक अर्थों में मन्त्रों के माध्यम से प्रयुक्त हुआ है । कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि पति शब्द का सीधा अर्थ किसी वस्तु पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाले के लिए अथवा एकमात्र स्वामी होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यही अधिकार की भावना पति-पत्नी के सम्बन्ध के अन्तर्गत निहित प्रतीत होती है । पति-पत्नी का मात्र रक्षक ही नही वरन वह उसका अधिकारी है । इसलिए वह अपने प्रति सम्पूर्णता की वैसी ही आकाँक्षा करता है जैसे कि स्तुति करने वाले ऋषि या यजमान या ऋत्विक् देवताओं को समर्पित होते हैं ।

सामाजिक पृष्ठभूमि में पति अपनी पत्नी के लिए धन यश पुत्रादि समस्त वस्तुओं का धारक या स्वामी है और उसके माध्यम से वह इन समस्त वस्तुओं की प्राप्ति करती है । इसके विपरीत वह स्वयं ही इन सब की स्वामिनी बनकर पत्नी के नाम से अभिहित की जाती है । इस प्रकार दोनों में द्वैत होते हुये भी एकात्मकता और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । जिस प्रकार इन्द्र की काम्य मेधा या प्रज्ञा है और ऋषि सम्पूर्ण समर्पण के साथ इसे इन्द्र को प्रदान करते हुये स्वाहाकार करता है जिससे इन्द्र प्रसन्न होते हैं वैसे ही मेधारूप नारी[१२४] का सम्पूर्ण समर्पण पति के प्रति होता है और वह उसकी काम्य वस्तु हो जाती है । इसलिये इळा, भारती और सरस्वती तीन देवियाँ पति रूप

में इन्द्र का वरण करती हैं और समस्त प्रकार के धन को प्रदान करने वाले इन्द्र के लिए समर्पित होकर उसके गृह की ओर गमन करते हुये वह स्वयं वसुमती बन जाती हैं[१२५]।

जिस प्रकार उषस् और रात्रि अपने पति रूप प्रजापति के लिए अथवा देवताओं के लिए अपने समस्त शरीर को अनावृत करते हुये उनके प्रति समर्पित होती हैं वैसे ही नारी अपना सम्पूर्ण सत्त्व समर्पित करते हुए पति के लिए स्थान प्रदान करती है और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण होकर सृष्टि कार्य को अग्रसारित करने में समर्थ होता है।

एक ओर प्रकृति अपनी लीला विलास के साथ सृष्टि को विकासमान करती हुई प्रफुल्लित होती है तो दूसरी ओर नारी अपने विलास के साथ पति को प्रसन्न करती हुई मातृस्वरूपा होकर पारिवारिक सौजन्य एवं संगठन की कर्त्री बनती है। दोनों का विलास या भोग, मात्र भोग के लिए नहीं वरन् समस्त सृष्टि को गत्यात्मकता प्रदान करने के लिए होता है और इसी में दोनों सम्बन्धों की सार्थकता है। इसीलिए होतृ नामक ऋत्विक् उषासानक्ता[१२६] को आहुति प्रदान करते हुये उस विकासमान सृष्टि प्रक्रिया के प्रति नतमस्तक होता है जिसके बिना यह सृष्टि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार सुन्दर नारियाँ अपने को पतियों की प्रिय बनने के लिए निरन्तर सौन्दर्य प्रसाधनों एवं अलंकारों से अलंकृत करती हैं वैसे उषाएँ निरन्तर नवीन-नवीन रूप कल्पनाओं के द्वारा उद्भासित होती हुई गमन करती हैं[१२७]।

इस प्रकार इस समस्त सृष्टि में प्रकृति का नर्तन या उसका जो अलंकरण है वह नारी प्रतिमानों के माध्यम से मानवीय जीवन एवं समाज संरचना के अन्तर्गत अनुकूल होता रहता है इससे सामाजिक सौन्दर्य की निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। जीवन का समस्त सौन्दर्य जिस प्रकार प्रकृति के अन्तर्गत उद्भासित होता है वैसे ही मानवीय जीवन में पति-पत्नी के सौन्दर्य के प्रति आकाँक्षाओं और उनके सम्पूर्तियों में उद्भूत होकर समाज को नित्य नये नूतन रंग प्रदान करता है।

जिस प्रकार धेनु अपने पय के द्वारा अपने वत्स का भरण करती है वैसे ही पति के द्वारा मधुमय उर्मियों के उद्भासित किये जाने पर नारी अपने वत्स का संपोषण करती है और इस प्रकार पुरुष क्षेत्रपति बनता है और नारी स्वयं धारयित्री का रूप धारण कर सम्पूर्ण समाज की पोषिका या धारयित्री बनती है। दोनों का मधुर संयोग समाज को अमृत प्रदान करता है जिससे समाज अनन्तकाल तक सम्पोषण प्राप्त करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। इसीलिए जब हम मन्त्रों के माध्यम से यह कहते हैं कि 'अमृतस्य नः पतयो मृष्यन्त'[१२८] तो हम मात्र देवताओं की अभ्यर्थना ही नहीं करते वरन् इस सृष्टि के विकास में पति-पत्नी की सम्भावनाओं का संकेत भी करते हैं।

यजुर्वेद में पति-पत्नी का सम्बन्ध समाज के प्रत्येक कर्म में समान रूप से महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। इसीलिए स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये यज्ञ कर्म में पत्नी का साथ होना आवश्यक माना गया है। पत्नी यज्ञ की धुरी रूप में है और उसके बिना यज्ञ कर्त्ता कार्य सञ्चालन नहीं कर सकता है। अत: पत्नी को साथ रखकर यजन करते हुये वह देवताओं को प्रसन्न करता हुआ तथा अपने शत्रुओं का नाश करता हुआ, ज्ञान रश्मियों से उद्दीप्त होकर, स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है[१२९]। इसीलिए अग्निहोतृ आदि कर्म में पति-पत्नी साथ रहकर यजन करते हैं[१३०]।

पति के प्रति उत्तरदायित्व में पत्नी अपनी समस्त शक्ति एवं सामर्थ्य का उपयोग करती है। यह परम्परा ऋग्वेद काल से लेकर निरन्तर प्रवाहमान होती रही है। इसीलिए इन्द्राणी को सुपत्नी की संज्ञा दी गयी है[१३१]। वह समस्त नारियों की पूज्य बनकर आदर्श रूप में समस्त वैदिक साहित्य में स्वीकार की गयी हैं।

काठक-संहिता के अनेक सन्दर्भों में पत्नी के महत्त्व का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यज्ञ की अविच्छिन्नता के लिए पत्नी का होना अत्यन्त आवश्यक है। पत्नी का सान्निध्य यज्ञ कर्म की अविच्छन्नता में सहायक माना जाता है। इसीलिए हवि निर्माण के लिए पत्नी सन्नहन किया जाता है[१३२]।

वैवाहिक जीवन का लक्ष्य सभी प्रकार से समृद्धि एवं सौमनस्य की प्राप्ति मानी जाती रही है जिसके अन्तर्गत धन की कामना महत्त्वपूर्ण रही है। इसीलिए प्रथम दिन शय्या पर आरोहण करते समय नारी को आदेश दिया जाता है कि वह सुखपूर्वक शय्या पर आरोहण करे और पति के लिए सन्तान की उत्पत्ति करे। यही नही इन्द्राणी के समान बुद्धिमती होकर प्रतिदिन उषाओं के साथ जागरण करे जिससे परिवार में ज्योति विकीर्ण हो[१३३]। वह भाग्यवती होकर गृह के समस्त स्वजनों परिजनों के लिए कल्याणकारी बने[१३४]। इस सौमनस्य की कामना इसलिए की जाती है कि पति भी परिवार का एक सदस्य है और यदि परिवार में सौमनस्य नहीं होता तो पति-पत्नी में भी सौमनस्य रह पाना कठिन हो जायेगा।

विवाह के पूर्व कन्या के शरीर के साथ अनेक प्रकार के पाप और दोष सन्निहित होते हैं। जिस समय वह वधू बनकर प्रवेश करती है उस समय उसके पूर्व जीवन के समस्त दोष उसके साथ संयुक्त रहते हैं। इसीलिए प्रवेश के समय विभिन्न संस्कारों के माध्यमों से उसे पवित्र बनाया जाता है। जिसमें सर्वप्रथम उसके वस्त्रों का परिवर्तन कर नये वस्त्रों को धारण कराया जाता है[१३५]। ऐसी मान्यता थी कि उसके साथ कृत्या आदि दोष बने रहते हैं जो पति के परिवार आदि के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इन दोषों का परिहार विशिष्ट विधानों आदि के माध्यम से किया जाता है[१३६]। इन

दोषों का परिहार न करने से वह वैवाहिक जीवन में सौमनस्य को नहीं प्राप्त कर सकता। अनेक अप्सराएँ, गन्धर्वादि उसके पीछे लगे रहते हैं इसलिए पति की सहगामिनी होने के लिए उसके साथ संलग्न अन्य क्षुद्र शक्तियों को भी अलग किया जाता है[१३७]।

वैवाहिक जीवन में सौमनस्य की भावना सर्वोपरि है। इस सौमनस्य में पति के साथ यदि कोई अन्य नारी सम्मिलित हो जाती है तो वहाँ दाम्पत्य जीवन में गहरी दरारें पड़ने लगती हैं इसीलिए अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में सपत्नीनाशन्, पतिवशीकरण आदि की विधियों का अथवा उनसे सम्बन्धित मन्त्रो का उल्लेख किया गया है।

अथर्ववेद के तृतीयकाण्ड में ऐसी ही प्रार्थना के अन्तर्गत किसी नारी का कथन है — मेरी सपत्नी को दूर करो और मेरे पति को एक मात्र मेरे प्रति समर्पित करो। अन्य कोई मेरे पति मे रमण न करे[१३८]। इसीलिए पत्नी कुछ विशिष्ट औषधियों का उत्खनन कर उसके द्वारा सपत्नी को बाधित करती है। इस प्रकार सपत्नी को अभिभूतकर पति का वशीकरण किया जाता है। इस वशीकरण के अन्तर्गत परस्पर चित्त एकीकरण या सौमनस्य, दाम्पत्य प्रेम के लिये आवश्यक है जिसमें पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के सौमनस्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। अथर्ववेद के चतुर्थ[१३९] काण्ड और छठे काण्ड में इस प्रकार के मन्त्रों को संकलित किया गया है[१४०]।

पति के स्वर्ग प्रयाण करने के पश्चात् भी नारी पतिलोक को वरण करती हुई या उसकी कामना करती हुई इस लोक में प्रतिष्ठित रहती है[१४१]। इस प्रकार जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पति-पत्नी का सम्बन्ध लोक एवं परलोक दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। पति गृहपति होता है तो वह गृहपत्नी होती है।

इसीलिये विवाह के अन्त में यह कामना की जातो है कि सवितृ देवता वधू को गृहपत्नी बनाकर दीर्घायु प्रदान करें[१४२]।

सन्दर्भ

१. P.N. Prabhu, *Hindu Social Organization*, Bombay, 1979
२. ऋ० ६.७०.६
३. नृ० १.१९१.६
४. ऋ० १.१८१.१०
५. ऋ० ६.७५.५
६. ऋ० ६.७३.१
७. ऋ० १.२७.३

८. ऋ० १.१६६.२
९. J. Gonda, *Stylistic repitation in the Veda*, 1959.
१०. J. Gonda, *Gods and power in the Veda.*
११. ऋ० ७.२६.२
१२. वही ।
१३. उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः ।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते । ऋ० ७.२६.२
१४. ऋ० ७.१०१.३
१५. रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे । ऋ० ७.३२.३
१६. ऋ० २.२६.३
१७. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स न मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ ऋ० १.२४.२
१८. मा न महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ ऋ० १.११४.७
१९. J. Gonda, *Use of particle Ca in the Sanskrit Language*, Vol. No. 51, Poona, 1974
२०. ऋ० १.११४.७ एवं ऋ० १.२४.१
२१. ऋ० १.१८५.१०
२२. ऋ० ४.१.१०
२३. ऋ० १.१८५.१० एवं ऋ० १.१६०.२
२४. ऋ० १.१८५.९
२५. वही
२६. ऋ० ५.४७.२, ६.१६.३५
२७. ऋ० ७.१०१.३
२८. ऋ० ८.११.२७
२९. ऋ० १०.३३.७
३०. ऋ० ७.२९.४
३१. ऋ० १.३१.१०
३२. ऋ० ७.३२.१९
३३. ऋ० ७.३२.१९
३४. वशिष्ठ स्मृति १७.१७
३५. अपुत्रो यः पिता कन्यामन्यकुलं प्रापयति स बह्निः इत्युच्यते ऋ० ३.३१.१ पर सायण भाष्य से उद्धृत
३६. ऋ० १०.१२

३७. ऋ० १०.१९०
३८. अथर्व० ३.२५.५
३९. मनु० ९.१३८
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्तात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयं भुवा ॥
४०. ऋ० ५.४३.७ एवं १०.२२.३
४१. शैलीगत आवर्तन के लिए दृष्टव्य — J. Gonda, *Stylistic repitation in the Veda*, 1959.
४२. ऋ० १०.१३.१ श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।
४३. ऋ० १.६९.३
४४. ऋ० १.३१.११ पितृर्यत पुत्रो ममकस्य जायते ।
४५. ऋ० ७.२६.२ यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते ।
४६. ऋ० १.६८.५ एवं ९.९७.३०
४७. ऋ० ८.२७.२२
४८. ऋ० १०.७२.८ अष्टौ पुत्रासो अदितिर्ये जाता स्तन्व१ंस्परि ।
४९. ऋ० १०.८५.११
५०. काठक संहिता काण्ड २१.५
५१. ऋ० ६.६.७९
५२. ऋ० १०.८५.४५
५३. ऋ० १०. ८५.४२
५४. यजुर्वेद ३६.२३
५५. यजुर्वेद ८.५
५६. ऋ० १.८९.३ (ऋ० ४ यजु० ३५)
५७. काठक संहिता २२.३
५८. का० ७.९
५९. का० १३.१५
६०. का० ६.४
६१. ऋ० १.८९.१०
६२. मिथुनीकरण के लिए द्रष्टव्य — J. Gonda, "*Dual Deties in the Veda*", p. 31.
६३. पूरकसम्बन्धी (Complimentory form) अवधारणा के लिए द्रष्टव्य- J. Gonda, Particle 'च' in Sanskrit Language.
६४. ऋ० द्रष्टव्य १.१८५.११
६५. ऋ० ६.५१.५
६६. ऋ० ६.७२.२

६७. ऋ० १०.१८.१०
६८. ऋ० १०.१७.६१
६९. ऋ० ४.२२.४
७०. ऋ० ७.२५, ३.३३.३, ९.१००.७, १०.११४.४
७१. ऋ० १०.१२
७२. ऋ० ५.४७.६
७३. ऋ० ९.९.३
७४. ऋ० १०.१४०.२
७५. ऋ० १०.१.७
७६. ऋ० ८.१०१.१५; १०.११७.१; १०.४०.५; १०.६१.५; ६;
७७. ऋग्वेद १.१४१.२
७८. ऋग्वेद १०.१५९.३
७९. शतपथ ब्राह्मण १.९१.४, ३.९.४.४ आदि
८०. बृह० १.४.१ तथा आगे
८१. ऋ० १.३०.५; एवं ८.९२.३०
८२. ऋ० ६.४५.१०
८३. ऋ० ४.५७.३
८४. ऋ० ७.३५.१०
८५. ऋ० ८.१९.७
८६. ऋ० १०.१६४.४
८७. ऋ० ७.५८.३
८८. ऋ० १.३.१, १.११.२, १.३.४६, १.४७.५, ४.४७.३, ५.७५.८, ८.२२.४
८९. ऋ० १.३.१, १.११.२, ८.५९.५, ८.५.११, ८.५९.३, ८.८.१६
९०. ऋ० १.३.१, १०.८५.१५, १०.४०.४, १०.४०.१२, १०.९३.६, १०.१७३, १०.१३१.४
९१. ऋ० ७.६४.२
९२. ऋ० १०.१२१.१
९३. अथर्व १२.१
९४. ऋ० १०.१२५.३
९५. अथर्व० १२.१
९६. ऋ० १०.१०.११
९७. ऋ० १०.७१.४
९८. ऋ० १०.८५.४६
९९. ऋ० १०.८५.२०
१००. ऋ० १.१८६.७

१०१. ऋ० १०.१६९.३

१०२. ऋ० १.१०५.२

१०३. ऋ० १.११६.१०

१०४. ऋ० १०.८५.२४

१०५. ऋ० १.७२.५, १.८२.६

१०६. ऋ० १.११९.५ आ वां पतित्व सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवां पती ।

१०७. ऋ० १०.३२.३

१०८. ऋ० १०.४२.१

१०९. ऋ० १०.२२.३ भर्त्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥

११०. ऋ० १०.१६२.५

१११. ऋ० ४.५.५

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥

११२. ऋ० १०.१०.१०

११३. ऋ० १.१२४.७ अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये धनानाम् ।

११४. ऋ० ९.९२.४

११५. ऋ० ७.२६.३

११६. ऋ० ८.९१.४

११७. ऋ० १०.८५.४०

११८. ऋ० ९.८६.३२

११९. ऋ० ९.१०१.७

१२०. ऋ० ९.९५.५, ६.४७.१२

१२१. ऋ० १.११७.७ घोषायै चित् पितृवदे दुरोणे पति ।

१२२. ऋ० १०.१४५.२ उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं में पराधम पतिं मे केवलं कुरु ॥

१२३. ब्रह्मणस्पति — मा० सं० १४.२८, १७.५२, ३३.८९, ३.२८
मनस्पति — मा० सं० ३७, ३८, २.२१, ८.२१,
वाचस्पति — मा० सं० ३७.१८, ८.४५, १७.२३
सौसस्पति — मा० सं० १२.९
शुभस्पति — मा० सं० १०.३३
नमस्पति — गो० ब्रा० २.४.९
ब्रहस्पति — ऐ० आ० ४.१.१

१२४. मा० सं० ३२.१३

१२५. मा० सं० २८.१८

१२६. का० सं० १५.१३
१२७. का० सं० १६.२०
१२८. का० सं० ४.१५
१२९. का० सं० ६.४
१३०. क़ा० सं० ५.४
१३१. का० सं० ८.१७,
१३२. का० सं० २८.८ यज्ञोऽविच्छन्नो ....
१३३. अथर्व० १४.२.३१
१३४. शौ० १४.२.२६ एवं २७
१३५. अथर्व० १४.१.२७ अश्लीला तनूर्भवति
१३६. अथर्व० १४.१.२६ नीललोहितं भवति
१३७. अथर्व० ४.३२.१२
१३८. अथर्व० ३.१८
१३९. अथर्व० ४.४.४,३;
१४०. अथर्व० ६.६९.१०२
१४१. शौं० १०.७३.१ वयं नारी पतिलोकं वृणया
१४२. का० सं० १४.२.७५

* * *

तृतीय अध्याय

ऋग्वेद में शिक्षण व्यवस्था का स्वरूप

'शक् धातु का अर्थ समर्थ होना' है। शक् धातु का सन्नन्त रूप शिक्ष् है इसमें अङ् पूर्वक टाप् प्रत्यय लगाने से शिक्षा शब्द बनता है। यह 'जानने की इच्छा' अर्थ में प्रयुक्त होती है 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्'। कोष[१] में भी यह धातु इसी अर्थ में प्रयुक्त की गयी है। ऋग्वेद (३.१९.३) में 'शिक्षो:' शब्द का अर्थ आचार्य सायण ने 'शिक्षते दान-कर्मण: अभिमतफलप्रदाने शक्तुं शिक्षो:'[२] किया है एवं इसकी निष्पत्ति शक्लृ धातु का सन्नन्त रूप शिक्ष् ही स्वीकार किया है एवं 'शिक्षविद्योपादाने अत्र दानार्थ:' अर्थ किया है। आचार्य सायण[३] और वेङ्कटमाधव ने शिक्षा शब्द को 'शिक्षते दान-कर्मा' से निष्पन्न माना है। इसका सन्दर्भ निघण्टु ३.२० एवं १.७ में भी द्रष्टव्य है।

ऋग्वेद[४] में शिक्षा शब्द के अनेक रूप प्राप्त होते हैं जैसे- शिक्षते[५], शिक्षति[६], शिक्षसि[७], शिक्षात्[८], शिक्षा[९], शिक्षमाण:[१०], शिक्षानर[११] इत्यादि। ऋग्वेद १.५३.२ में इन्द्र को शिक्षानर कहा गया है जिसका अर्थ 'सहारा देने वाला'[१२] है। सातवलेकर[१३] ने इसका अर्थ 'दानियों का नेता' किया है। इसी तरह ऋ० (८.५२.८) में इन्द्र की शिक्षक के रूप में स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में शिक्षा शब्द से सम्बन्धित जो भी शब्द प्रयुक्त हुये हैं उनका अर्थ प्राय: दानशीलता के साथ जोड़ा गया है चाहे वह इन्द्र के विषय में हो अथवा किसी अन्य देवता के विषय में। यहाँ यह कहा जा सकता है कि शिक्षा से सम्बन्धित कर्म को ऋग्वेदकाल में अत्यन्त पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में इन्द्र के विषय में कहा गया है —

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीरा: ॥

ऋ० २.११.२१

सायण ने इसका अर्थ किया है — हे इन्द्र या दक्षिणा। दक्षमुत्साहनं करोतीति दक्षिणा। स्तोतृभ्यो देया ते त्वत्संबन्धिनी मघोनी धनवती जरित्रे स्तोत्रे वरं

श्रेष्ठमभिमतमर्थं नूनं प्रति दुहीयत् इदानीं प्रतिदोग्धि संपादयतीत्यर्थः। तादृशीं दक्षिणां स्तोतृभ्यः अस्मभ्यं शिक्ष प्रयच्छ।

इस मन्त्र में प्रयुक्त दक्षिणा का अर्थ सायण, वेङ्कटमाधव,[१४] विल्सन[१५] और गेल्डनर[१६] ने ऋत्विक् को दिया जाने वाला धन अर्थात दक्षिणा ही माना है एवं शिक्षा का अर्थ प्रदान करने से लिया है। ऋ० ३.१९.३ पर सायण ने 'शिक्षा' शब्द का अर्थ 'शोभनापत्योपेतं धनं शिक्ष प्रयच्छ'[१७] किया है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद ७.१०३.५ का सन्दर्भ भी विचारणीय है —

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥

इस पर डा० सी० कुन्हनराजा[१८] ने लिखा है कि वेद पढ़ने वाला गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार एक मेढक दूसरे मेढक की वाणी का अनुवर्तन करता है। सम्पूर्ण ज्ञान को बार-बार दुहराकर स्मृति में धारण करने की श्रुति परम्परा का उक्त मन्त्र स्पष्ट सङ्केत देता है। इस प्रकार की शिक्षा ही लाभकारिणी हो सकती है यह लोक सिद्ध है। जो ज्ञान स्मृति में नहीं उसका कोई उपयोग भी कठिन होता है।

ऋग्वेदकालीन शिक्षा पद्धति में शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्त्व था। आचार्य सायण ने भी ऋग्वेद भाष्य भूमिका में 'शिक्षा' का लक्षण बताते हुये कहा है —

'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' वह विद्या जो स्वर, वर्ण तथा उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे। जिस तरह वेदाङ्ग के छः अङ्ग हैं उसी तरह वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान के रूप में शिक्षा के भी छः अङ्ग हैं[१९]। वर्ण से अभिप्राय अक्षरों से है। ऋग्वेद में उल्लेख है —'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'। ऋ० १.१६४.३९

उच्चारण में स्वर का विशेष महत्त्व था। महाभाष्य[२०] में इसका लक्षण — 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः' किया गया है। ऋग्वेद में वाक्[२१] के लिये स्वर शब्द का प्रयोग है। इनमें समाहित उदात्तादि धर्म भी स्वर हैं —

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय स्वराः[२२]।
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः[२३]॥

उदात्त को मुख्य स्वर माना जाता है। अपवाद को छोड़कर एक पद में उदात्त निश्चित होता है। उस काल में स्वर का इतना महत्त्व था कि त्वष्टा के उच्चारण में स्वर का परिवर्तन हो जाने के कारण उसकी कृत्या साधना विपरीत फलदायिनी हो गई थी

जिसके कारण वृत्रासुर की मृत्यु हो गई थी। महर्षि पतञ्जलि ने यहाँ सङ्केत किया है कि इन्द्रशत्रु शब्द में वृत्रासुर द्वारा 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' मन्त्र के प्रयोग में तत्पुरुष या बहुव्रीहि समास होने पर दोनों के स्वर प्रयोग में अन्तर आ जाता है। शातयिता को शत्रु कहा जाता है यदि बहुव्रीहि समास होगा तो उसका अर्थ होगा 'इन्द्र है शातन अर्थात् दण्ड देने वाला जिसका और तत्पुरुष समास होने पर अर्थ होगा — 'इन्द्र का शातयिता'। इन समासों का यथार्थ ज्ञान मन्त्रोच्चारण में 'इन्द्र शत्रु' शब्द के स्वर (उच्चारण स्वर) द्वारा ज्ञात होता है। गलत स्वर का प्रयोग करने से समास भेद हो जाने के कारण अर्थभेद भी हो जाता है। यज्ञकर्त्ता वृत्रासुर अपने ही अभिचार प्रयोग में अभीष्टार्थ बोधक वाले स्वर के स्थान पर भिन्न-भिन्न स्वर वाले पाठ स्पर का प्रयोग करने से अभीप्सितार्थक फल का भागी होकर मारा गया[२४]। यदि तत्पुरुष समास में प्रयोग होता तो वृत्रासुर की विजय, होती[२५]।

स्वर के महत्त्व पर वेङ्कटमाधव ने कहा है — अन्धकार में प्रकाश लेकर चलने वाला व्यक्ति जैसे कहीं भी गिरता नहीं वैसे ही स्वर की सहायता से किया गया अर्थ सन्देह रहित होता है[२६]। यदि मन्त्र, स्वर या वर्ण से हीन होगा, अनुचित स्वराघात के साथ उच्चारित होगा तो वह अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता अपितु वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है। इस प्रकार ऋ० में भी अर्थ को समझे बिना शब्द मात्र का अध्ययन निन्दित माना गया है।

वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। ऋग्वेद १०.७१.५

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। स्वर ही उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित होता है। त्रैस्वर्य प्रक्रिया में स्वर प्रधान है और व्यंजन स्वर युक्त होता है[२७]। स्वर के अतिशय महत्त्व को देखने से पता लगता है कि ऋग्वेद काल में उच्चारण काल, उनके प्रयत्न स्थान, तथा दोष रहित उच्चारण, पर विशेष बल दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता[२८] में इसका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार वैदिक विद्यार्थी अत्यन्त शुद्ध उच्चारण, उचित शब्द प्रयोग एवं अत्यधिक अभ्यास के कारण केवल भारहारी स्थाणु मात्र नहीं थे अपितु अर्थानुसंधान के कारण शिक्षा के उदात्त अर्थों को चरितार्श करते थे। व्याकरण के सुबद्ध नियमो के कारण परिष्कृत उच्चारण अपरिहार्य था क्योंकि उच्चारणभेद से भी अर्थ भेद हो जाता है। इन तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि वेदकालीन श्रुति शिक्षा अत्यन्त परिष्कृत बुद्धि के विद्यार्थियों को उत्पन्न करती थी।

वैदिक शिक्षा श्रवण और स्वाध्याय इन दो विधियों में प्रचलित थी। श्रवण शिक्षा प्रणाली में मन्त्रों के कंठस्थ करने की प्रक्रिया में मन्त्रो के छन्दों, पदों, शब्दों, अक्षरों

और ध्वनि के उच्चारण को समुचित रूप से स्पष्ट किया जाता था। ग्रन्थ लिपिबद्ध कर दिये जाने पर इस विधि की महत्ता समाप्त हो जाती। लिपिबद्ध होने पर मानव प्रमाद के कारण ग्रन्थ में पाठ-भेदादि अशुद्धियाँ आती तब कथ्य अस्पष्ट हो जाता जैसा कि परवर्त्ती लिपिबद्ध ग्रन्थों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। इसके लिए ऋषियों ने अनूठी विधियों का आविष्कार किया था। विधियाँ स्वरों पर एवं अक्षरक्रम पर आधारित थी। इनके कारण 'श्रवण' विधि से सहस्रों वर्षों तक वेदों का अध्ययन होता रहा एवं ग्रन्थ के एक भी अक्षर में पाठ-भेद नहीं हुआ। ऋग्वेद संसार का एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें एकमात्रा का भी पाठ भेद नहीं है। इसका कारण है उच्चारण की ये विधियाँ। इन्हीं को मन्त्र-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ एवं जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन आदि को अष्ट-विकृति कहते हैं। आचार्य उच्चारण अभ्यास में स्वरानुसार अंगुलि संकेतो या मुद्राओं का भी संकेत करते थे और उच्चारण की शुद्धि पर पूर्ण ध्यान दिया करते थे। उत्तरवैदिक काल में परा एवं अपरा के रूप में विद्या के दो भेद किए गये हैं। अध्यात्मज्ञान पराविद्या कहलाई एवं शेष विषयों से सम्बन्धित विद्या को अपरा की कोटि में रखा गया था[२९]। यजुर्वेद में इसे क्रमशः विद्या और अविद्या भी कहा गया है[३०]। विषय क्रम के अनुसार ही वैदिक विद्यालयों को होतृ, अध्वर्यु, उद्गातृ तथा ब्रह्मन् इन चार शाखाओं में विभक्त कर दिया गया था। होतृ-विद्यार्थी पद्यात्मक ऋग्वेद का विशेष अध्ययन किया करते थे। उद्गातृ छात्रों की सुविधा के लिए सामवेद को पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक इन दो भागों में विभक्त किया गया था। इन होतृ आदि पुरोहितों द्वारा ही प्रातिशाख्य साहित्य का भी सृजन हुआ जिसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याकृति, स्वर तथा उच्चारण आदि का विस्तृत विवेचन किया जाता था[३१]।

उत्तर वैदिक युग में सभी वर्णो के व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था इसके संकेत संहिताओं में भी प्राप्त हैं। यजुर्वेद[३२] में कहा गया है कि इस हितकारिणी वाणी का प्रवर्तन सभी वर्णों के व्यक्तियों के लिये किया गया है। ऋग्वेदकालीन शिक्षा का लक्ष्य उच्चतम ज्ञान से कम नहीं था जो प्राथमिक स्पन्द में नाम संकेत या संज्ञा रूप में प्रकट हुई थी[३३]। ऋषियों ने वंशपरम्परया गुरुकुल में शिष्यों को अपना ज्ञान संक्रमित किया[३४]। ऋषि इस काल के प्रमुख शिक्षाविद् थे जिन्हें तप या योग की साधना से एकाग्रचिन्तन द्वारा सत्य का साक्षात्कार हुआ था। ज्ञान प्रौढ़ता के आधार पर शिक्षाविदों की कोटियाँ थी[३५]।

आर्यो की शिक्षा प्रणाली का ब्रह्मचर्य आश्रम से अभिन्न सम्बन्ध था। ऋग्वेद में ब्रह्मचारी का स्पष्ट उल्लेख है[३६]। जो पर्यटनशील गृहत्यागी एवं ज्ञान पिपासु होता

था। अथर्ववेद[३७] में कहा गया है कि जो ब्रह्मचारी तपपूर्वक वेद का स्वाध्याय करता है वह विद्या से पूर्ण होकर इस धरा धाम पर प्रकाशित होता है। ऋग्वेदकालीन शिक्षा का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक था। ज्योतिष, अन्तरिक्ष विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि के मूल तत्त्व भी हमें ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

ज्योतिषशास्त्र

चेतन प्राणी को अपने विषय में जीवन सम्बन्धी, अभ्युदय, अनभ्युदय, हर्ष-शोक प्रभृति, मानसिक परिवर्तन की प्रतीति होती है। जीवन के उत्थान-पतन दैवात् न होकर शनै: शनै: होते हैं। मानव अपने पतन की अवस्थाओं से शंकित होकर सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील होता है। वेद में हमें दो सन्दर्भों का परिज्ञान होता है —

१. दुर्बल के प्रति वशीभूत करने की कामना।
२. शक्तिशाली के प्रति स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा।

यह कहना अपर्याप्त होगा कि ऋग्वेद में केवल स्तुति ज्ञान ही है अपितु उसमें आकाशीय ज्ञान की पराकाष्ठा का भी परिचय मिलता है[३८]। ऋग्वेद २.५९.९ में वरुण को आकाशीय मार्ग का जानने वाला कहा गया है। यजुर्वेद में इसका विकसित स्वरूप दिखाई पड़ता है। ज्योतिष शास्त्र के मूलरूप से दो भेद होते हैं — गणित एवं फलित। ऋग्वेद में प्रमा और परिधि आदि गणितीय शब्दावलियों का विवेचन है[३९]।

कासींत् प्र॒मा प्रति॒मा किं नि॒दान॒माज्यं॒ किमा॑सीत् परि॒धिः कः आसीत्
छन्द॒ः किमा॑सी॒त् प्रउ॑गं॒ किमु॒क्थं यद्दे॒वा दे॒वमयंजन्त विश्वे ॥

ऋ० १०.१३०.३

त्रिकोणमिति तथा रेखागणित के वृत्त की परिधि तीन सौ साठ अंश की होती है जो ऋग्वेद (१.१६४.४८) में व्यक्त होती है। इसमें आदित्य द्वारा नियमित वर्षात्मक चक्र का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्ष खण्ड को एक चक्र माना गया है जो गतिशील है। उस चक्र की बारह प्रधियाँ जो बारह राशियों के आधार पर मास रूप में जानी जाती हैं। तीन फलक हैं जो तीन प्रधान ऋतुएँ है। दो-दो ऋतुओं के द्वन्द्व को लेकर उन फलकों को नाभि कहा गया है। इस सम्पूर्ण चक्र की तीन सौ साठ त्रिज्याएँ बनती हैं और त्रिज्याएँ भी परिवर्तनशील हैं। ये ही दिवस है। शतपथ ब्राह्मण में दिनों की यह गणना स्पष्टत:[४०] उल्लिखित है 'षष्ठि च ह वै त्रीणि च शतानि - संवत्सरस्याहानि'। इस प्रकार ज्योतिर्गणितीय चिन्तन के वाक्य ऋषियों के ज्योतिर्ज्ञान का निदर्शन है।

प्रधानतया नौ ग्रहों एवं सत्ताइस नक्षत्रों को ही हम इस विद्या का आधार मानते हैं क्योंकि अन्य ग्रहों का समावेश प्राकृतिक स्वभाव के कारण इन्हीं में हो जाता है। सूर्य को आदित्य कहा गया है । आदित्य छः है[४१] मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, और अंश। तैत्तरीय ब्राह्मण में आदित्य के स्थान पर इन्द्र का भी नाम है। शतपथ ब्राह्मण[४२] में बारह आदित्यों का उल्लेख है । वस्तुतः सूर्य एक है इसके कर्म, काल और परिस्थिति के अनुसार विविध नाम रखे गये हैं । ऋग्वेद १.३५.१ से ११ तक सविता के रूप एवं गुणों का वर्णन है । एक जगह उल्लेख है कि सर्वशक्तिमान सूर्य के आगमन से नक्षत्र और रात चोर की तरह भागते हैं[४३] ।

ऋग्वेद में[४४] सोम की शक्ति एवं गुणों का वर्णन है । इसे ही सोम देव कहा गया है । यह भी सूर्य के समान गतिशील है । सिद्धान्त प्रकरण में कहा गया है कि चन्द्र का प्रकाश सूर्य की किरणों के कारण है अर्थात् चन्द्र स्वतः प्रकाशवान नहीं है । अतः इसके प्रकाश में शीतत्व की अनुभूति होती है । ऋ० में[४५] बृहस्पति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सूक्त कहे गये हैं । इनका स्थान भी सूर्य एवं चन्द्र के समान महत्त्वपूर्ण है । ऋग्वेद में[४६] केतु की भी चर्चा है लेकिन यहाँ केतु शब्द के आधार पर स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह केतु ग्रह विशेष के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कित् ज्ञाने से निष्पन्न होने से केतु ग्रह के स्वभाव तथा शब्द साम्य के कारण तुलना की जा सकती है । इनके अतिरिक्त भी वैदिक साहित्य में नौ ग्रहों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है एवं उत्तर वैदिक साहित्य तक अन्तरिक्ष विज्ञान के पूर्ण विकास का परिचय प्राप्त होता है ।

ऋग्वेद में 'नक्षत्र' शब्द जहाँ भी आता है इससे तारे का ही आशय ग्रहण किया जा सकता है[४७] । कम से कम तीन नक्षत्रों के नाम ऋग्वेद में आते हैं । तिष्य[४८] को एक चन्द्र नक्षत्र के रूप में उल्लेख किया गया प्रतीत होता है । यद्यपि सायण इसे सूर्य के अर्थ में ग्रहण करते हैं । लुडविग और त्सिमर ने ऋग्वेद में नक्षत्रों की संख्या सत्ताइस होने के कुछ सन्दर्भों का उल्लेख किया है किन्तु यह सभी असम्भाव्य प्रतीत होते हैं और ऋग्वेद १०.१९.१ में प्रयुक्त रेवती (सम्पत्ति) तथा पुनर्वसु (पुनः सम्पत्ति लाने वाला) विशेषण के रूप में आये हैं[४९] । इस प्रकार ज्योतिष के क्षेत्र में हमें प्रतीकात्मक सामग्री प्राप्त होती है किन्तु यह सामग्री वैदिक ऋषियों के ज्योतिर्विज्ञान के प्रति अवधान एवं रूचि का परिचय दे ही जाती है ।

अन्तरिक्ष विज्ञान

अन्तरिक्ष एवं विमान विज्ञान को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी सभ्यता की देन समझा

जा रहा है जबकि वैदिक साहित्य में इस विषय पर प्रचुर सामग्री है । ऋग्वेद[५०] भी इस ज्ञान की ओर संकेत करता है । ऋ० (१.६.२) में पृथिवी, जल और आकाश में आने जाने के लिए यान का वर्णन है । ऋ० १.१२.७ में अग्नि के माध्यम से एवं ऋग्वेद १.१३.१ में अग्नि को सुखकारी रथ पर देवों को लाने वाला कहा गया है ।

वैदिक वाड्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण साहित्य वैज्ञानिक ग्रन्थ है । इसमें मुख्यत: अग्नि, वायु, जल के द्वारा विज्ञान की विभिन्न क्रियाएँ दर्शाई गई है जो बाद में विद्युत तथा किरण समूहों द्वारा आज के आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझी जा सकती हैं ।

चिकित्साशास्त्र

अभी इस तरह का कोई प्रमाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिससे ऋग्वेदकालीन चिकित्सा विज्ञान पर प्रकाश डाला जा सकता हो । यहाँ इसका संक्षिप्त समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है । शरीर को जराव्याधि से मुक्त रखकर आरोग्य रखने के लिए वैदिक चिकित्सा पद्धति तीन प्रकार की है —

१. आसुरी चिकित्सा — शल्यकर्म
२. मानुषी चिकित्सा — वनस्पतियों द्वारा
३. दैवी चिकित्सा — अनुष्ठान आदि द्वारा

आसुरी चिकित्सा —

ऋग्वेद में चिकित्सा पद्धति का नाम आते ही सर्वप्रथम अश्विनौ का नाम सहज ही आ जाता है । इसके लिये अश्विनौ के शल्य क्रिया सम्बन्धी आख्यानों का अवलोकन किया जा सकता है । शल्य क्रिया सम्बन्धी सन्दर्भों में हम विश्पला आख्यान की चर्चा करेंगे । ऋग्वेद में विश्पला सम्बन्धी आख्यान का संकेत है[५१]। भारतीय परम्परागत व्याख्याकारों ने अपने भाष्यों में इस आख्यान पर प्रकाश डाला है । ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर अश्विनौ के इस कृपापूर्ण कृत्य का उल्लेख है । जिसके अनुसार खेल नामक राजा की पुत्री विश्पला किसी संग्राम में गई हुई थी । जिसमें रात्रि में भ्रमण के समय उसकी एक टाँग पक्षी के पंख के समान टूट गयी । पुरोहित अगस्त्य द्वारा स्तुति किये जाने पर अश्विनौ ने[५२] शीघ्र ही उपस्थित होकर लोहे की जंघा बनाकर[५३] विश्पला के पैरों में प्रत्यारोपित[५४] कर दिया ।जिससे वह पुन: भ्रमण करने योग्य हो गयी । स्कन्दस्वामिन् ने अपनी व्याख्या में राजा को ऐल बताया है ।[५५] जबकि यह मूल मन्त्र से साम्य नहीं रखता तथा दूसरी ओर उन्होंने एक ऋचा के भाष्य में[५६] राजा को

'खेल' ही बताया है। भाष्यकार स्कन्दस्वामिन् के अनुसार[५७] अगस्त्य ऐल नामक राजा के पुरोहित थे उनकी सेना में विश्पला नाम की नारी थी। अन्न और धन के लिए युद्ध करती हुई उसकी जंघा को शत्रुओं ने विच्छिन्न कर दिया।[५८] उसकी विच्छिन्न जंघा का समाचार सुनकर अगस्त्य ने अश्विनौ को सन्तुष्ट किया जिन्होंने विश्पला को लौहमयी जंघा प्रदान कर चलने योग्य बना दिया।[५९] यह आख्यान ऋग्वेद कालीन शल्य प्रक्रिया की विकसित परम्परा को प्रमाणित करता है। इसी तरह बध्रिमती का आख्यान[६०] जिसमें उसने अपनी प्रसव वेदना को दूर करने के लिए अश्विनौ को पुकारा[६१]। परिणामस्वरूप अश्विनौ ने उसे प्रसव वेदना से मुक्त कर दिया[६२] एवं उसे पिङ्गलवर्ण का पुत्र हुआ[६३]। अन्य भाष्यकारों के परिप्रेक्ष्य में स्कन्दस्वामिन् ने अपने भाष्य में अलग ही विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वध्रिमती नाम की कोई युद्धकारिणी नारी थी जिसका युद्ध में हाथ कट जाने से उसने अश्विनौ की स्तुति की जिन्होंने प्रकट होकर उसे स्वर्णिम हस्त प्रदान किया[६४] जब कि सायण पुत्र प्राप्ति का उल्लेख करते हैं[६५]।

ऋ० १.११७.२४ में भी बध्रिमती के इस आख्यान का सङ्केत है। जिसकी व्याख्या में सायण ने उसे किसी राजर्षि की ब्रह्मवादिनी पुत्री स्वीकार किया है। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्यत्र इस आख्यान के सङ्केत नहीं प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद कालीन चिकित्सा विज्ञान अथवा औषधि-विज्ञान की चरम सीमा हमें तभी ज्ञात हो सकती है जब हम दध्यङ्ङाथर्वण की आख्यायिका का सन्दर्भ प्रस्तुत करें। इस आख्यान का वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान[६६] है।

ऋग्वेद में इस आख्यान का संक्षिप्त रूप ही मिलता है। इसके अनुसार दध्यङ्ङ् ने इन्द्र के स्थान पर त्वष्टा से मधु विद्या प्राप्त की थी। अश्विनौ ने दध्यङ्ङ् को अश्व सिर धारण करवा कर उनसे मधु विद्या की शिक्षा ली। ऋग्वेद के इस आख्यान का विकासात्मक स्वरूप शतपथ ब्राह्मण[६७] में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार दध्यङ्ङ् इस मधु विद्या को जानते थे। अश्विनौ को यह रहस्य मालूम होने पर वे दध्यङ्ङ् के पास पहुँचे लेकिन दध्यङ्ङ् ने इन्द्र द्वारा की गयी वर्जना का उल्लेख करके अपने सिर के काटे जाने के भय को बताकर मधु विद्या के ज्ञान को बताने में असमर्थता प्रकट की। इस पर अश्विनौ ने उनको इस भय से मुक्त किया और कहा हम आपका सिर पहले ही अलग करके उसकी जगह अश्व का सिर लगाकर उससे मधुविद्या का रहस्य प्राप्त कर लेंगे। दध्यङ्ङ् की अनुमति लेकर उन्होंने इस कार्य को सम्पन्न किया[६८]। फलतः क्रोधित इन्द्र ने ऋषि का अश्व सिर काट दिया। तत्पश्चात् अश्विनौ ने ऋषि का पूर्व वास्तविक सिर लाकर जोड़ दिया[६९]।

अश्विनौ के इन चमत्कारिक क्रियाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में आयुर्विद्या की स्थिति अपने उच्चतम शिखर पर थी और अश्विनद्वय उस काल के प्रतिष्ठित शल्य चिकित्सक थे। आज का शल्य विज्ञान अंगों के प्रत्यारोपण में तो आंशिक सफलता पा चुका है किन्तु सिर के प्रत्यारोपण की तकनीक से अभी बहुत दूर है। जिसका वर्णन वैदिक काल के साहित्य में प्राप्त है। यद्यपि इन कथाओं को पुराकथा शास्त्रीय दृष्टि से ही देखने की परम्परा है किन्तु इस सम्भावना से बचा भी नहीं जा सकता कि इस प्रकार के चमत्कारिक कथाओं वाला समाज शल्यचिकित्सा की तकनीक से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं था क्योंकि प्रत्येक कल्पना सत्य की भूमि पर ही निर्मित होती है। अश्विनौ ने अनेक लोगों को यौवन प्रदान किया। इस तरह के आख्यान उत्तरवैदिक साहित्य के बाद भी विकसित होते चले गये। ऋग्वेद में इस आख्यान से सम्बन्धित सन्दर्भ प्रथम मण्डल, पञ्चम मण्डल, सप्तम मण्डल एवं दशम मण्डल में प्राप्त होते हैं। इस आख्यान के प्रमुख नायक च्यवन ऋषि हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है कि जरा प्राप्त च्यवन ऋषि को पुनर्यौवन प्रदान कर अश्विनौ ने उनकी सहायता की[७०]। इस प्रकार के अन्य सन्दर्भ भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं[७१]। अश्विनौ ने च्यवन ऋषि के जीर्ण शरीर से वृद्धावस्था को कवच के समान उतारकर उनको जरामुक्त[७२] करके पुनः तरुण बना दिया[७३]। जिससे अनेक युवतियों ने उनके साथ सहवास की कामना की[७४]। ऋग्वेद के अतिरिक्त इसका उल्लेख तैत्तरीय संहिता[७५] एवं अथर्ववेद[७६] में भी प्राप्त होता है।

च्यवन की तरह ही अश्विनौ ने काल नामक राजा को पुनर्यौवन प्रदान किया[७७]। युवावस्था प्रदान करने के उपरान्त उसे एक पत्नी भी प्रदान की[७८]। इसी तरह ऋ० में[७९] उल्लेख है कि सरल हृदय और सर्वत्र व्याप्त ऋभुओं का मन्त्र कभी विफल नहीं होता, उन्होंने अपने माता-पिता को तरुण बना दिया था।

ऋ० में रोगों के विषय में मुख्य रूप से हृदय रोग,[८०] हरिमाण रोग,[८१] यक्ष्मा रोग,[८२] जलोदर रोग,[८३] आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद[८४] के अनेक मन्त्रों में रोगों का उल्लेख है। सूर्य को रोगों का विनाशक कहा गया है[८५] जो आज भी सत्य है। ऋग्वेद १.१९१.१२ में विषनाशक का उल्लेख किया गया है। रोगों के निदान के लिये औषधियों का उल्लेख किया गया है। इनमें सोम[८६] को राजा माना गया है। ऋ० १.११२.१ में शिल्पी वैद्य[८७] एवं ब्राह्मण के कार्यों का उल्लेख है। एक जगह[८८] भिषक् पुत्र का भी उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद कालीन समाज ने जहाँ शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में एक स्वस्थ परम्परा उपस्थिति की वहीं पर चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भी पूर्ण विकास हुआ।

ऋग्वैदिक समाज एवं स्त्री

ऋग्वैदिक काल कृषियुग एवं परिवार संस्था के सुव्यवस्थापन का काल था वस्तुत: कृषि के आरम्भ ने ही स्थिर सभ्यता को पनपने का मार्ग प्रशस्त किया था। परिवार संस्था के व्यवस्थापन की प्रथम आवश्यकता स्त्री थी । यद्यपि यह अभी भी विवादास्पद है कि परिवार संस्था के जन्म की मूल हेतु स्त्रियाँ थी अथवा पुरुष । अनेक पाश्चात्य नृविज्ञानियों ने प्रस्तरयुगीन एवं पूर्व कृषियुगीन सभ्यता का जन्म मातृप्रणाली द्वारा माना है । यद्यपि ऋग्वैदिक समाज के विषय में असन्दिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य स्वयं वीर एवं साहसिक अभियानों में दक्ष थे । उनके परिवार को पुरुष नियन्त्रित ही मानना होगा किन्तु बौद्धिक दृष्टि से उन्नत आर्यजनों के पारिवारिक स्थिरीकरण की अवस्था में यह स्वाभाविक एवं आवश्यक था कि स्त्रियों को उचित एवं जिम्मेदारी पूर्ण कार्य सौंपा जाय । सैन्य अभियानों में व्यस्त किन्तु कृषक आर्यों ने स्त्रियों को स्वभावत: सामाजिक, शारीरिक एवं शैक्षिक दृष्टि से उन्नत एवं सम्मान पूर्ण स्थान दिया था । वे ब्रह्मचर्य्य का पालन करती थी एवं उसी के द्वारा युवा पति को प्राप्त करती थी । ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (अथ० ११.५.१८) । स्त्री शिक्षा का प्रारम्भ उस काल में उपरोक्त ऋक् से सिद्ध होता है । उस काल में कन्याओं को सुयोग्य बनाने के लिए उदार शिक्षण का प्रबन्ध था । उन्हें ललित कलाओं, काव्य कला, संगीत, नृत्य तथा अभिनय की शोभन शिक्षा दी जाती थी[८९] । शिक्षा के इस प्रभाव के परिणाम स्वरूप अनेक ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं का दर्शन हमें ऋग्वेद के अनुशीलन से प्राप्त होता है जो आध्यात्मिक ज्ञान एवं वेद के रहस्यों की ज्ञात्री थी । इस परम्परा में ऋषि कक्षीवान् की पत्नी घोषा[९०] का नाम महत्त्वपूर्ण है । घोषा ऋग्वेद दशम मण्डल के उनतालीसवें एवं चालीसवें सूक्त की ऋषिका है । लोपमुद्रा[९१] ने अपने पति के साथ ऋचाओं का दर्शन प्राप्त किया था । अपाला[९२] का भी ऋचाओं के प्रणयन में योगदान माना गया है । विश्ववारा तथा कक्षीवान् की दूसरी पत्नी रोमशा[९३] का उल्लेख भी इसी परम्परा में प्राप्त होता है । अन्य नाम जो ऋग्वैदिक ऋचाओं से सम्बन्धित है उनमें सविता की पुत्री सूर्या,[९४] इन्द्राणी, जुहू, श्रद्धा, सार्पराज्ञी,[९५] ममता,[९६] यमी,[९७] उर्वशी[९८] आदि के वर्णनों से तात्कालिक स्त्रियों के सामाजिक उन्नति एवं परिवार के मध्य उनके सम्मान पूर्ण अवस्था का ज्ञान होता है । ऋग्वेद में देवी के रूप में जिन्हें प्रतिष्ठा मिली है उनमें अदिति, पृथिवी, सीता, उषस्, रात्रि, वाक्, पुरन्ध्रि, बृहद्दिवा, सुमति, राका, कुहू, सिनीवाली आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । अदिति[९९] का सर्वप्रथम देवी के रूप में उल्लेख हुआ है इन्हें मित्र और वरुण,[१००]

अर्यमन्,[१०१] रूद्र,[१०२] इन्द्र[१०३] और आदित्यों की माता के रूप में स्वीकार किया गया है । वैदिक अदिति की अवधारणा के विषय में विद्वानों में अब तक उत्सुकता बनी हुयी है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अदिति इतनी प्राचीन देवी है कि वैदिक आर्य भी इसके मूल रूप को ऋग्वेद के रचनाकाल में भी विस्मृत कर चुके थे । व्याकरण की दृष्टि से अदिति शब्द 'दा' धातु से निष्पन्न होता है तथा यहाँ पर असीमित[१०४] अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अदिति को स्वर्ग, अन्तरिक्ष, माता, बहन एवं पुत्र के रूप में स्वीकार कर हम उसकी सत्ता को असीमित अर्थ में ही पाते हैं । जो कुछ बन चुका है एवं जो बनने वाला है वह सब अदिति ही है[१०५] । इस सार्वभौम सत्ता के रूप में नारी को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित पाते हैं । अदिति के विरोध में संभवत: आर्येतर जातियों की माता के रूप में दिति[१०६] का उल्लेख है ऐसी मान्यता है । इसका सन्दर्भ केवल तीन बार[१०७] प्राप्त होता है एवं अदिति के साथ दिति का दो बार[१०८] उल्लेख है । अदिति की ही तरह पृथिवी भी माता कहीं गयी हैं[१०९] । अथर्ववेद में इनके लिये पूरा एक सूक्त[११०] समर्पित है । ऋग्वेद[१११] में अग्नि, सोम, बृहस्पति एवं नदियों को पृथिवी के साथ माना गया है । अथर्ववेद में पृथिवी सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय की अपेक्षा सर्वाधिक प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं। भारतीय जनमानस में मातृभूमि के प्रति प्रेम के उत्स को प्रकट करने वाले वैदिक राष्ट्रगीत के रूप में अथर्ववेदीय भूमि सूक्त आज भी प्रसिद्ध है । इडा, सरस्वती, और भारती अथवा इडा, सरस्वती और मही जैसी तीन देवियों का त्रिक् समस्त सुखों का विधान करने वाला माना गया है । इडा अन्न की देवी है, सरस्वती विद्या की और भारती या मही सबका पोषण करने वाली हैं । इस प्रकार अन्न, विद्या और आश्रय इन तीनों का विधान हम अथर्ववेदीय भूमि सूक्त के अन्तर्गत पाते हैं । पृथिवी देवी के रूप में हमारे लिये अन्न, धन एवं यश का साधन प्रदान करती हैं । इसीलिये मातृभूमि से प्रार्थना की गयी है —

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । (अथर्व० १२.१.६३)

इन्ही सब सन्दर्भों से ऋषि ने इसी सूक्त में पृथिवी को माता के समान दुग्ध देने के लिये कहा है —

'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पय: ।' (अथर्व० १२.१.१०) इसी के साथ सीता[११२] को कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

प्रात: काल की देवी के रूप में उषस् से सम्बन्धित ऋग्वेद में लगभग बीस सूक्त हैं[११३] और इनके नामों का लगभग तीन सौ बार उल्लेख हुआ है । उषस् की रूप कल्पना वैदिक काल की सबसे मनोरम अभिव्यक्ति है और संसार के किसी भी साहित्य में

इससे अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता[११४]। इन्हें मनुष्यों के मार्गों को आविष्कृत करने वाला एवं पञ्चजनों को प्रबुद्ध करने वाली[११५] कहा गया है। ये ही सभी प्राणियों को अर्थ के लिये[११६] उद्‌बुद्ध करती हैं।

रात्रि[११७] के विषय में ऋग्वेद में मात्र एक सूक्त है। उषस् के साथ अनेक मन्त्रो में देवता युग्म के रूप में इनका आह्वान किया गया है। ऋग्वेद में नारी की सर्वोच्चतम स्थिति का आभास हमें वाग् देवी के रूप में मिलता है। ऋग्वेद[११८] में वाग् देवी स्वयं ही अपने से अपना वर्णन करती हैं और स्वयं को सृष्टि स्वरूपा स्वीकार करती हैं।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिंभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ० १०.१२५.१

इडा,[११९] सरस्वती[१२०] और राका[१२१] के साथ देवी के रूप में बृहद्दिवा का भी उल्लेख है। इन्हें माता के रूप में स्वीकार किया गया है। राका[१२२] का उल्लेख दो बार धनवती एवं उदार देवी के रूप में हुआ है।

ऋग्वेद में जिन अन्य नारी देवियों का उल्लेख हुआ है उनमें सुभृता[१२३] पुरन्ध्रि,[१२४] धिष्णा,[१२५] अक्षुमति,[१२६] निर्ऋति,[१२७] श्रद्धा,[१२८] अनुमति,[१२९] दम्पति,[१३०] पृश्नि,[१३१] अरण्यानि,[१३२] वरुणानी,[१३३] अग्न्यानी,[१३४] मुख्य है। यद्यपि ये ऋग्वैदिक देवियाँ सम्पूर्ण रूप से लोक की स्त्रियों की प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती हैं क्योंकि इनमें अधिकांश देवियाँ भावात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। राका, अनुमति, सिनीवाली, कुहू, रात्रि और उषस्, आदि काल के विशेष अवस्थाओं का, वाक् सर्वानुस्यूत वाणी का, इडा, भारती और सरस्वती आदि मनस् की अवस्थाओं एवं क्रिया की सूक्ष्मता एवं प्रेरणा का अभिव्यञ्जन करती हैं। अदिति निस्सीमता एवं दिति सीमाबद्धता को व्यक्त करती हैं किन्तु इन देवियों के स्त्रीरूप में वर्णन एवं उनके उत्कृष्ट भावात्मक स्वभाव के आधार पर स्त्रियों के प्रति वैदिक जनों की मान्यता का सङ्केत अवश्य ही मिलता है। नदियों के नाम के उल्लेख में सरस्वती, सिन्धु[१३५], विपाशा, परुष्णि, असिक्नी मरुद्‌वृधा वितस्ता, अर्जीक्या, कुभा, कुमु, गोमती, सुषोमा, शुतुद्रि दृशद्वती, यमुना, गंगा एवं सरयू[१३६] प्रमुख हैं।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

ऋ० १०.७५.५

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥

ऋ० १०.७५.६

ऋग्वेद में अप्सराओं को भी देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। अप्सराएँ जल से सम्बन्धित हैं। अप्सरा का शाब्दिक अर्थ ही है 'जल में विचरण करने वाली'। इनका सन्दर्भ ऋग्वेद में लगभग पाँच बार आया है[१३७]। इनमें उर्वशी[१३८] का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है। ऋग्वेद में एक नारी के माध्यम से संवाद शैली का प्रारम्भ स्वीकार कर सकते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि यहीं से उत्तरवैदिक अथवा उसके बाद नाटक की परम्परा का उद्भव एवं विकास प्रारम्भ होता है। जिस तरह उषस् सम्बन्धी मन्त्रों में कविता का विकास अपने अन्तिम बिन्दु पर है ठीक उसी तरह संवादसूक्तों की परम्परा से यह कहा जा सकता है कि उस काल में नारियाँ कला की इस विधा से पूर्णतः परिचित थी एवं सम्भव है कि आर्यों के उत्सवों में स्त्री-पुरुष संवादों के माध्यम से मनोरञ्जन का प्रचलन भी रहा होगा।

स्त्रियों में संगीत के प्रचलन के प्रमाण मुख्य रूप से सामवेद से प्रारम्भ होता है। इसका प्रणयन ही गायन के लिये हुआ था। गीत प्रायः सभी अवसरों पर गाये जाते थे लेकिन सोमाभिषव के समय स्तुति करने का उल्लेख है। गायन के साथ नृत्य स्वाभाविक है इसलिये कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में स्त्रियाँ नृत्य की विधा से परिचित रहीं होगी। उर्वशी एवं अन्य अप्सराएँ संगीत के साथ नृत्य का भी प्रयोग करती रही होंगी। उषस् की तुलना एक नर्तकी से की गयी है।

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवा पोर्णुते वक्षं उस्रेव वर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्यु१षा आवर्तमः ॥

ऋ० १.९२.४

यद्यपि स्त्रियाँ अपनी सुरक्षा के लिये पुरुषों पर आश्रित रहती थीं। इस तरह से अपनी सुरक्षा स्वयं न कर पाने के कारण वे बोझ स्वरूप हो जाती थी, इससे बचने के लिये उनमें आत्मरक्षा की भावना का जागरित होना स्वाभाविक था। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक घनघोर युद्ध में खेल राजा की पत्नी विशपला भी साथ गयी थी जहाँ युद्ध में उसकी टाँग टूट जाने के बाद अश्विनौ ने लोहे की जंघा प्रत्यारोपित की थी[१३९]। मुद्गलानी भी सैन्य सञ्चालन में प्रशिक्षित थी। उसने अपने पति मुद्गल के रथ का सञ्चालन किया था[१४०]। ऋग्वैदिक जीवन में जहाँ तक नारी अस्तित्त्व का प्रश्न है वे पुरुष के संरक्षण में रहकर भी स्वतन्त्र थीं। उनकी स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार के विरोध का सन्दर्भ नहीं दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद में समन[१४१] उत्सव का उल्लेख है। इस उत्सव में युवा कन्या अपनी स्वतन्त्रता के साथ जाती थी तथा वहाँ पर स्वेच्छापूर्वक वर का चुनाव करती थी। स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार अपने मृत पति के

भाई से विवाह कर सकती थी[१४२]। यहाँ यह कहा जा सकता है कि विवाह के मामले में माता-पिता संतानों पर कोई दबाव नहीं डालते थे। भाई उन्हें सलाह दे सकते थे लेकिन उनका कोई नियन्त्रण नहीं था। भाई विहीन कन्याएँ दृढ़ता के साथ अपने जीवन साथी का चुनाव करती थी[१४३]। नारियों के अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का इससे सङ्केत मिलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में नारी की तुलना ऋष्टि (तलवार) से की गई है। कहा गया है जिस तरह ऋष्टि म्यान से युद्ध में ही चमकने वाली होती है, अन्य समय वह मेघमण्डल में विद्यमान बिजली के समान म्यान में ही रहती है उसी तरह मानव की नारियाँ यज्ञसभा की वाणी की भाँति सभासदों में प्रकट हुआ करती हैं।

कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ परदा प्रथा को भी प्रश्रय देती थी। वैदिक नारियाँ वैदिक जनों की सभ्यता की प्रेरणा हुआ करती थीं। व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को वे समाज में भद्रवाणी के समान निखारती थीं। ऋग्वेद के ऐसे स्थल नारी के मूल भावात्मक एवं प्रेरणात्मक स्वरूप का सुन्दर निदर्शन करते हैं।

ऋग्वैदिक समाज में नैतिकता की अवधारणा

आर्य मानसिक एवं शारीरिक पवित्रता के प्रति बहुत अधिक जागरूक थे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्री घर की रक्षिका थी इसीलिये उसे गृहपत्नी कहा गया है —

गृहान् गंच्छ गृहपंत्नी यथासों वशिनी त्वं विदथमा वंदासि।

ऋ० १०.८५.२६

जब पति उसका पाणिग्रहण करता है तो वह उसे आनन्द, समृद्धि एवं सौभाग्य के लिये ग्रहण करती है[१४४]। सम्पत्ति के लिये दीर्घ जीवन की कामना की गई है[१४५] जिससे वे दोनों सन्तानों सहित आनन्दित रह सकें[१४६]। वैवाहिक जीवन के माध्यम से नारी परिवार में समृद्धि, सौभाग्य एवं आनन्द का निवेश करती हैं[१४७]। पत्नी का सुख, पति के सुख में निहित है[१४८] इसलिये वह सदैव पति के युवा रहने की कामना करती है[१४९]। पति का सुख भी उसकी पत्नी में निहित है अत: वह उसके समीप गमन करता है[१५०]। पुरुष यदि किसी नारी, जो न तो प्रशंसनीय है और न उससे सम्बन्धित है, के साथ संगमन करता है तो वह निश्चय ही अन्धकार से परिपूर्ण सृष्टि या नरकगामी होता है[१५१]।

परपत्नी गमन, बहुविवाह और वेश्यावृत्ति —

नैतिक जीवन का सबसे बड़ा अवरोध इन्द्रियजन्य आकर्षण और संवेग है।

इन आवेगों के प्रति यदि संयम न किया जाय तो वे हमारी आन्तरिक शक्तियों को देय उपलब्धियों की ओर गतिशील बनाऐंगे । ऋग्वेदकालीन समाज इन सम्भावनाओं के प्रति सजग रहा है । यही कारण है कि ऋग्वेद में कौटुम्बिक व्यभिचार, परनारी गमन, बहुविवाह, वेश्यावृत्ति आदि की भर्त्सना की गई है । ऋग्वेद में परनारी गमन सम्बन्धी उल्लेख भी प्राप्त होते हैं –

१. वह व्यक्ति जो दूसरी नारी की सहमति प्राप्त कर उसके समीप गमन करता है[१५२] ।
२. जो सोते हुये दम्पत्ति के समीप गमन करता है[१५३] ।
३. जो अभिचार मन्त्रों के द्वारा किसी नारी को वश में करता है[१५४] ।
४. जो अन्धकार में अथवा उसके ज्ञान के बिना किसी नारी को अपवित्र करता है[१५५] ।
५. जो स्वयं पति रूप में अथवा जार (उपपति) के रूप में नारी के पास जाता है[१५६] ।

ऋग्वेद में व्यभिचारी को जार और व्यभिचारणी को जारणी कहा गया है। जार[१५७] शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है जबकि जारणी[१५८] का प्रयोग मात्र एक स्थान पर हुआ है ।

उपरोक्त सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस तरह के अनैतिक कर्मों के प्रति नारियों से अधिक पुरुषवर्ग ही अधिक उत्तरदायी होता था । दूसरी बात जो इन साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध होती है वह है अनुचित सम्बन्धों की परिकल्पना।

सम्भवत: उस समाज में इन घटनाओं को गम्भीरता से नहीं स्वीकार किया जाता था । जिसके परिणाम स्वरूप ही पुरुष नारी के समीप जार के रूप में गमन करता है[१५९]। बहुत सम्भव है इसी लोक व्यवहार में यमी ने यम को कामुक व्यवहार के प्रति प्रेरित करने का साहस किया हो[१६०] । किन्तु यम जैसे नैतिक विचारों से परिपुष्ट व्यक्ति ऐसे सम्बन्धों के अत्यन्त विरोधी रहे हैं और ऐसे कर्मो की निरन्तर भर्त्सना की और उपदेश दिया कि ऐसे कर्म वरुण के आदेशों के विरूद्ध हैं जो मनुष्यों के कार्यों का निरन्तर निरीक्षण करता है[१६१] । साथ ही उसे पाप की भी संज्ञा दी गई है[१६२] ।

जार शब्द के प्रयोग के माध्यम से जो दूसरी बात प्रकट होती है वह कन्याओं के साथ सम्बन्धों की है । ऐसा प्रतीत होता है कि कन्याओं के साथ दुर्व्यवहार सम्बन्ध अन्य नारियों की अपेक्षा अधिक निन्दनीय था क्योंकि जार के साथ इनके सम्बन्धों की चर्चा प्राय: की गयी है[१६३] । कहीं कहीं ऐसी भी युवतियों की चर्चा है जो अपने प्रेमियों के समीप गमन करती हैं तथा जिनके परस्पर सम्बन्ध बहुत ही आनन्दपूर्ण

हैं[१६४]। चाहे जो भी रहा हो परनारी गमन की निन्दा निरन्तर की गई है और ऐसे व्यक्तियों के प्रति सदैव यह कामना की गई है कि वे नाश और मृत्यु को प्राप्त करें[१६५]।

ऋग्वेद में बहु विवाह प्रथा सम्बन्धी निश्चित अवधारणा का अभाव है किन्तु इतना स्पष्ट है कि कोई भी नारी अपने पति के समीप अन्य नारी को नहीं देखना चाहती थी क्योंकि सपत्नी नाश की चर्चा अनेक बार प्राप्त होती है[१६६]। जैसा कि निश्चित है कि कोई भी सपत्नी प्रथम पत्नी के ऊपर होती है[१६७]। अत: पहली पत्नी ने सदैव अभिचार मन्त्रों के माध्यम से सपत्नी के नाश करने की कामना की और अपने पति के मन को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उसने सदैव प्रयास किया। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त इस प्रकार के प्रयोग के प्रति समर्पित है[१६८]।

इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी बहुविवाह की प्रथा पूर्ण रूपेण अनुपस्थित न थी किन्तु इसे काम्य नहीं माना गया है बल्कि यह नैतिक अवधारणाओं के विरुद्ध थी। स्पष्ट है कि ऋग्वेद में पुरुष और स्त्री के मध्य सम्बन्धों के प्रति नैतिक मान्यताओं की स्थापना हो चुकी थी। नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध किसी भी सम्बन्ध को समाज में उचित नहीं माना गया है।

समाज में असंयम, धूर्तता इत्यादि —

ऋग्वेद में असंयम, क्रोध एवं इस प्रकार के अन्य संवेगों को पाप के रूप में माना गया है और इन सबको दूर करने के लिये पाप का आह्वान किया गया है। ऋषियों ने यह कामना की है कि पाप उनको अभिभूत न करे[१६९] और यज्ञ करने वाले के मन से इसे दूर किया जाय जिससे उनके मन में यह पाप को विकसित न कर सके। देवताओं के क्रोध की भी चर्चा की गई है जिससे स्वयं देवता ही अपने भक्तों की रक्षा करते हैं[१७०]। पूजकों ने कामना की है कि उनके शत्रुओं के हृदय में ही क्रोध नष्ट हो जाय[१७१]। क्रोध का सहचर दूसरा पाप धूर्तता है। जिससे दूर रहने की कामना की गई है[१७२]। ईर्ष्या और घृणा भी ऐसी ही बुराईयों के अन्तर्गत आते हैं इसलिये देवताओं से उनको दूर करने की प्रार्थना की गई है[१७३]। यदि कोई व्यक्ति इन पापों को अनजाने में भी करता है तो वह दण्ड का भागी होता है। इसलिये देवताओं से उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना की गयी है[१७४]। दूसरों के प्रति किए गए समस्त अपराधों की भर्त्सना की गई है और उन्हें पाप की संज्ञा दी गई है। इसलिये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से भी कोई किसी के प्रति अपराध न करे ऐसा आदेश किया गया है[१७५]।

चौर कर्म —

ऋग्वेद में इस कम की निन्दा की गई है। इस प्रकार के सन्दर्भों का उल्लेख

है कि जो वस्त्र, भोजन, पशु आदि की चोरी करता है उसकी सामान्यजन द्वारा निन्दा की जानी चाहिए और उसे दण्ड मिलना चाहिए।[१७६] संभवतः उस काल में वस्त्र, आभूषण, भोजन, पशु आदि की चोरी सामान्य बात थी।

हत्या —

विश्व के सभी धर्मों में हत्या के कर्म की निन्दा की गयी है। ऋग्वेद में हमें 'मूरदेवान्' का उल्लेख प्राप्त होता है जिसकी व्याख्या सायण ने 'मारक व्यापारान्' के रूप में प्रस्तुत की है जिससे ऋग्वैदिक काल के हत्या कर्म में रत लोगों का सङ्केत प्राप्त होता है[१७७]। हत्यारों का दूसरा नाम असुतृप[१७८] मिलता है। कोष में[१७९] इस शब्द का अर्थ 'प्राणों का चोर', प्राण लेकर पिण्ड छोड़ने वाला किया गया है। यह तृप् धातु चुराने के अर्थ में प्रयुक्त है। हत्या करने वालों को निन्दनीय यातुधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो असुरों राक्षसों के समीप हैं। इस प्रकार वेदकालीन नैतिक धारणाओं के विरुद्ध इन कर्मों का उल्लेख किया गया है। इनसे रक्षा करने[१८०] एवं इनका नाश करने के लिये[१८१] देवताओं की स्तुति की गई है।

मांस भक्षण —

ऋग्वेद में कच्चा मांस भक्षण अनैतिकता के अन्तर्गत माना गया है। ऋग्वेद में ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ आमाद्,[१८२] क्रव्याद्,[१८३] क्रविष्णु[१८४] और यातुधान[१८५] जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा या कच्चा मांस खाने वालों को निन्दनीय दृष्टि से देखा गया है। श्वपाकी को देवता भी नहीं क्षमा करते[१८६]।

प्रमाद, नशा, द्यूतक्रीड़ा आदि —

प्रमाद, आलस्य, नशाखोरी, जुआँ आदि ऐसी बुराइयाँ हैं जो मानव के व्यक्तित्त्व के विकास में अवरोध बनकर उसकी अन्तरात्मा के ऊपर मैल का आवरण बनाती हैं। वे सत्य की निष्ठा के विरोधी गुणों का मन में विकास करती हैं। मानव जीवन का दर्शन 'उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' में निहित है। ऋग्वेद में इन बुराइयों की आलोचना की गई है। ऋग्वेद का यह कथन कि कठिन परिश्रम के बिना देवताओं का सख्यभाव नहीं प्राप्त होता,[१८७] इस बात का प्रमाण है कि प्रमाद या आलस्य अनैतिक माना जाता था। इसी के साथ सुरापान[१८९] द्यूतक्रीड़ा कर्म भी गर्हित माना गया है[१८८]। मनुष्य को अपना कृषि कर्म करने और जुआँ न खेलने की सलाह अक्ष सूक्त में दी गई है[१९०]।

अतिथि सत्कार, दान, दया, उदारता, मानवता आदि —

ऋग्वैदिक समाज में तो यह नियम ही था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मित्रों एवं अतिथियों को बाँटकर ही भोजन करना चाहिए यदि कोई व्यक्ति अकेले भोजन करता है तो वह पाप ही खाता है और उसे ऊर्ध्वलोक या स्वर्ग में स्थान नहीं मिलता।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

ऋ० १०.११७.४

जिस भोजन को न तो अर्यमन् को समर्पित किया गया हो और न किसी मित्र को ही, ऐसा भोजन ग्रहण करने वाला मात्र पाप का भक्षण करता है । यह भोजन मृत्यु का प्रतिरूप है ।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०.११७.६

यदि कोई व्यक्ति वास्तव में धनी है और भोजन दान में समर्थ है किन्तु यदि वह दान नहीं करता है तो वह देवताओं का कृपापात्र नहीं हो सकता[१९१] । जो निर्धन को भोजन देता है वही वास्तव में सद्गृहस्थ है और उसका भोजन भी पवित्र है । वह निश्चय ही अपने शत्रुओं को मित्र बना लेगा[१९२] ।

ऋग्वेद में उदारता एवं दान की चर्चा बार-बार की गयी है । दानशील व्यक्ति दीर्घ जीवन एवं अमृतत्त्व की प्राप्ति करता है और मृत्यु के पश्चात् देवताओं के उत्तम लोक में गमन करता है[१९३] ।

वैदिक ऋषियों ने समस्त सृष्टि के कल्याण की कामना की है और देवताओं से दया, शान्ति, समृद्धि, सुख एवं आनन्द प्रदान करने की प्रार्थना की है । उन्होंने एक साथ चलने भोजन करने आदि की कामना की है जिससे सभी अपने जीवन में आनन्द की प्राप्ति कर सके[१९४] । ऋग्वेद के अनुशीलन से हम देखते हैं कि दशम मण्डल में नैतिकता की अधिक विकसित विचारधाराएँ हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज मैं नैतिक मान्यताएँ धीरे-धीरे विकसित हो रही थी और नैतिक मूल्य परिवर्तन और परिवर्द्धन की गति में थे । इसीलिये लोकहित में उन्होंने सर्वजन हिताय ही समस्त नियमों की व्यवस्था की तथा सबके सह अस्तित्व की कामना की ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ० १०.१९१.४

तुम्हारे प्रयास एवं लक्ष्य समान हो, तुम्हारे हृदय की कामनाएँ समान हो, तुम्हारे विचार समान हों, जिससे कि तुम सबमें पूर्ण सहभाव को प्राप्त हो।

सन्दर्भ

१. वी० एस० आप्टे, संस्कृत अंग्रेजीकोष, पृ० ५५४

२. ऋग्वेद ३.१९.३ पर सायण भाष्य

३. ऋ० ३.४३.५ पर सायण और वेङ्कट माधव का भाष्य

४. Hermann Grassmann, *Worterbuch Zum Rgveda*, p.1370, Leipzig, F.A. Brockaus, 1873.

५. ऋ० १.२८.३ यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते

६. ऋ० ३.५९.२, ८.४९.१, ६.२८.२

७. ऋ० ८.५१.६

८. ऋ० १.६८.३

९. ऋ० ३.४५.५ एवं ३.१९.३

१०. ऋ० ७.१०३.५

११. ऋ० १.५३.२ एवं ४.२०.८

१२. *A Practical Vedic dictionary*, p. 642.

१३. ऋ० १.५३.२ पर सातवलेकर का हिन्दी अनुवाद

१४. ऋ० दीपिका, भाग - ३

१५. ऋग्वेद ट्रान्सलेशन, भाग - २, पृष्ठ १३७

१६. डेर ऋग्वेद भाग, १ पृ. २८९

१७. ऋ० ३.१९.३ पर सायण भाष्य

१८. *Some Aspects of Education in Ancient India*, p. 5. (When among them one (frog) repeats the words of the other like a student that of the teacher).

१९. तै० १.२

२०. महाभाष्य १.२.२९

२१. ऋ० ८.७२.७ अधिस्वरे; नि० १.११.३१

२२. ऋकप्रातिशाख्य ३.१

२३. पाणिनीय शिक्षा - ११

२४. महाभाष्य पस्पशाह्निक, १.१.१

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति ॥

२५. जर्नल आफ् गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, अंक ३७ (१९८१) हिन्दी-संस्कृत खण्ड, पृ ३७, आचार्य बल्देव उपाध्याय अभिनन्दन विशेषाङ्क

२६. स्वरानुक्रमणी १.८
अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलितः क्वचित् ।
एवं स्वैरः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥

२७. याज्ञवल्क्य शिक्षा, वर्ण प्रकरण - २.२९

२८. शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्ण मात्रा बलम्, साम सन्तानः इत्युक्तः शीक्षाध्यायः, तै० उप० १.२

२९. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । मुण्डकोपनिषद् - १.१.४;५

३०. विद्यां चा विद्यां चायस्तद्वेदोभयंॅसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ यजुर्वेद ४०.१४

३१. डॉ० सरयूप्साद चौबे, आदि और मध्ययुगीन भारत में शिक्षा, पृ० १९

३२. शुक्ल यजु० २६.२

३३. ऋ० १०.७१.१ बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत् नामधेयं दधानाः ।

३४. ऋ० १०.७१.७ अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।

३५. ऋ० १०.७१.७

३६. ऋ० १०.१०९.५ ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः । स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।

३७. तानि कल्पर्द् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ अथ० ११.५.२६

३८. ऋ० २.५९.९

३९. वेदों में ज्योतिष का समन्वयात्मक अध्ययन, पृष्ठ, १०

४०. श० ब्रा० ९.१.१.४३

४१. ऋ० २.२७.१

४२. वेदों में ज्योतिष का समन्वयात्मक अध्ययन, पृ० १६

४३. डॉ० गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ३१, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, १९५६

४४. ऋ० १.४०

४५. ऋ० २.२३, २.२४

४६. ऋ० १०.१५२.२

४७. ऋ० १.५०.२, ७.८६.१, १०.६८.११, ११७.७ भाग - १

४८. वैदिक इण्डेक्स, पृ० ४६० भाग – १, हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी
४९. वही
५०. ऋ० १.४.६ एवं १.४.३
५१. ऋ० १.११६, ११७, ११८ एवं १०.३९
५२. ऋ० १.११६.१५
५३. ऋ० १.११७.११
५४. ऋ० १.११८.८
५५. ऋ० १.११२.१०
५६. ऋ० १.११२.१०, ११६.१५
५७. अगस्त्य पुरोहितः ..... ऐलो नाम राजा वभूव । ऋ० १.११२.१० पर भाष्य
५८. ऋ० १.११६.१५
५९. ऋ० १.११२.१० पर स्कन्द स्वामिन् का भाष्य
६०. ऋ० १.११६.१३, १.११७.२४, ६.६२.६, १०.३९.६, १०.६५.१२
६१. ऋ० १.११६.१३, ६.१२.६ एवं १०.३९.६
६२. ऋ० १०.३९.६
६३. ऋ० १०.६५.१२
६४. ऋ० १.११६.१३ पर स्कन्द स्वामिन का भाष्य
६५. ऋ० १.११६.१३ पर सायण भाष्य
६६. ऋ० १.११६.१२, ११७.२२, ११९.९
६७. शतपथ ब्राह्मण ४.१.५.८, ६.४.२.३, १४.१.१८.२५
बृहद्देवता ३.१८.२४
६८. शतपथ ब्रा० १४.१.१.५३
६९. अथस्य इन्द्र शिरश्चिच्छेद अथास्य एवं शिर आहत्य तद् ह अस्य प्रति दधतुः । शत० ब्रा० १४.१.१.३३
७०. ऋ० १.११७.१३
७१. ऋ० १.११८.६, ५.७४.५, ५.७५.५, ६.९२.६, ७.६८.६०, ७.७१.५, १०.३९.४, १०.५९.१, १०.६१.२, १०.११५.६
७२. ऋ० १.११६.१०
७३. ऋ० ७.३९.६
७४. ऋ० १.११६.१०
७५. तै० सं० ६.४.९.१
७६. अथ० ७.५३.१
७७. ऋ० १०.३९.८
७८. ऋ० १.११२.१५

७९. ऋ० १.२०.४
८०. ऋ० १.५०.११
८१. ऋ० १.५०.१२
८२. ऋ० १.१२२.९
८३. ऋ० ४.१.५
८४. ऋ० १.११२.८, १.११६.१६, १.११७.७ एवं ८
८५. ऋ० १.५०.१३
८६. ऋ० १०.३७.८ एवं १०.९७.१८
८७. ऋ० ९.११२.१
८८. ऋ० ९.१११.३
८९. आचार्य बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ०४०२
९०. ऋ० १.११७.७
९१. ऋ० १.१७९
९२. ऋ० १०.९१
९३. ऋ० १.१२६.७
९४. ऋ० १०.८५
९५. ऋ० १०.१८९
९६. ऋ० ६.१०
९७. ऋ० १०.१०
९८. ऋ० १०.९५
९९. ऋ० १.१३६.३, १६२.२४,२५, १.१८५.३, १०.४०.६ आदि
१००. ऋ० ८.२५.३, १०.३६.३, १३२.६
१०१. ऋ० ८.४७.९
१०२. ऋ० ८.९०.१५
१०३. ऋ० २.२७.७
१०४. Sūryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Delhi, 1981.
१०५. ऋ० १.८९.१०
१०६. ऋ० १.२४.१ को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेय मातरं च ॥
१०७. ऋ० १.२४.१
१०८. ४.२.११ एवं ५.६२.८
१०९. ऋ० ५.८४.१, १.१५९, १६०, १८५, ६.५३ इत्यादि
११०. ऋ० १.१३९, अथर्व० १२.१
१११. वा० सं० १२.७०

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्तसीते पयसाऽभ्या ववृत्स्व ॥

११२. ऋ० १.४८, ४९, ५२, ११३, १२३, १२४, ३.६१, ४.३०, ५१, ५२, ५.७९.८०, ६.७५.८१, १०.१७२ आदि
११३. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ १०६
११४. ऋग्वेद ७.७९.१
११५. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ ११०
११६. ऋ० १०.१२७
११७. ऋ० १०.१२५
११८. ऋ० २.३१.४
११९. ऋ० ५.४२.१२
१२०. ऋ० १०.६४.१०
१२१. ऋ० २.३२.८ एवं ५.४२.१२
१२२. ऋ० १.४०.३, १०.१४१.२
१२३. ऋ० ५.४२.५, ११.३१.४
१२४. ऋ० १.२२.१०
१२५. ऋ० १०.५९.५ एवं ६
१२६. ऋ० १०.५९.१ से ३
१२७. ऋ० १०.१५१.१

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

१२८. ऋ० १०.५९.६, १०.१६७.३
१२९. ऋ० १.९२.१०
१३०. ऋ० १.२३.१०, ८४.१० एवं ११, ८.६.१९, ७.१०, ५८.३
१३१. ऋ० १०.१४६.५ एवं ६
१३२. ऋ० १.२२.१२
१३३. ऋ० १.२२.१२
१३४. ऋ० १०.६४.९
१३५. सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिः - ऋ० १०.६४.९
१३६. ऋ० १०.१२३.५
अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।
चरत प्रियस्य योनिषु प्रियः सन् त्सीदत् पक्षे हिरण्यये स वेनः ॥
१३७. ऋ० ९.६६.८

१३८. ऋ० १.११६.१५

१३९. ऋ० १०.१०२.२

१४०. ऋ० ४.४८.८

१४१. ऋ० १०.४०.२

१४२. ऋ० १.२४.४ एवं ७

१४३. मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः ।
गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक् ॥ ऋ० १.१६७.३

१४४. ऋ० १०.८५.३३

१४५. ऋ० १०.८५.३५

१४६. ऋ० १०.८५.४१

१४७. ऋ० १०.८५.४२ एवं ४७

१४८. ऋ० ९.८२.४

१४९. ऋ० १.१०५.२

१५०. ऋ० १.८२.५ एवं १.११७.२०

१५१. ऋ० ४.१८.१३

१५२. ऋ०. १०.१६२.४

१५३. ऋ० १०.१६२.४

१५४. ऋ० १०.१६२.६

१५५. ऋ० १०.१६२.६

१५६. ऋ० १.१६२.५

१५७. ऋ० १.४६.४, १.६६.४, १.६९.१, ६.५५.४, ७.९.१, ७.९०.१

१५८. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रुवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ ऋ० १०.३४.५

१५९. ऋ० ६.५५.४५, १०.३.३, १०.१६२.५

१६०. ऋ० १०.१०.१ से १४

१६१. ऋ० १०.१०२, ५, ६, ८, ९

१६२. ऋ० १०.१०.१२

१६३. ऋ० १.६६.४, १.११७.८, १.१५२.४
अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत ।
मृज्यसे सोम सातये ॥ ऋ० ९.५६.३

१६४. गच्छञ्जारो न योषितम् – ऋ० ९.३८.४
योषा जारमिव प्रियम् – ऋ० ९.३२.५
प्रियां न जारो – ऋ० ९.९६.२३
सरञ्जारो न योषणां – ऋ० ९.१०१.१४

१६५. ऋ० १०.१०६.७ एवं १६२.५, ६
१६६. ऋ० १.१०५.८
१६७. ऋ० १०.१५९.६
१६८. ऋ० १०.१४५
१६९. ऋ० ८.७१.२
१७०. ऋ० ७.१८.१६, ८.४.५, १०.१५२.३
१७१. ऋ० २.२३.१२, २.२४.१४, ८.३.१३, १०.३४.१४
१७२. ऋ० ७.८०.६
१७३. ऋ० ४.५४.३, ७.८९.५
१७४. ऋ० ४.१२.४
१७५. ऋ० ५.८७.७
१७६. ऋ० १.५०.२, १.६५.१, ४.३८.५, ५.१५.५, ५.१२, ६.१२.५ एवं ७.८६.५
१७७. ऋ० १०.८७.११,१४; १६२.५
१७८. ऋ० १०.८२.७, ८७.१४, १०.१४.१२
१७९. Suryakanta, *A Practical Vedic dictionary*, p. 120.
१८०. ऋ० १.३६.१५, ८.६७.११, १६२.३
१८१. ऋ० २.२३.२, ६.१६.३२, ७.५९.८, ६.७५.१९
१८२. ऋ० १०.८७.७
१८३. ऋ० ७.१०४.२, १०.१६.१९, १०.८७.२
१८४. ऋ० १०.८७.५
१८५. ऋ० १.३५.१०, १०.८७.२, ३ एवं ५
१८६. ऋ० ४.४८.१३
१८७. ऋ० ४.३३.११ ..... न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।
१८८. ऋ० ७.८६.६
१८९. ऋ० १०.३४.१३
१९०. ऋ० १०.११७.२
१९१. ऋ० १०.११७.३
१९२. ऋ० १.१२५.५ एवं ७, १२३.१३, ३.५४.२०, ५.८२, १०.१९१.२ एवं ४
१९३. ऋ० १.११४.८

* * *

चतुर्थ-अध्याय

वेषभूषा

ऋग्वेद में परिधान से सम्बन्धित जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं वे इतने स्वल्प तथा विरल हैं कि उस समय की दशा का पूर्णरूपेण वर्णन कर पाना कठिन है। वैदिक आर्यों के वस्त्र परिधान ऊनी, सूती और रेशमी हुआ करते थे। अजिन तथा कुश के बने वस्त्रों के पहनने का प्रचलन यज्ञ के पवित्र अवसर पर था परन्तु यह वैदिककाल का साधारण परिधान था[१]। आर्य कातने और बुनने के लिये भेड़ों का ऊन व्यवहार में लाते थे। संभवत: इसीलिये भेड़ को उर्णावती कहते थे। सिन्धु को ऋग्वेद में इस नाम से भी सम्बोधित किया गया है[२]। सिन्धु को उर्णावती इसीलिये कहा गया है कि वहाँ ऊन और ऊनी वस्त्र अधिक मिलते थे। उस काल में गान्धार की भेड़ें प्रसिद्ध थी[३] और जिस प्रदेश से रावी (परुष्णी) बहती थी वहाँ का रंगीन अथवा धुला हुआ (सुन्ध्वय:) ऊनी कपड़ा प्रसिद्ध था[४]। पूषन् द्वारा ऊनी कपड़े बुनने का भी उल्लेख है[५]।

आधीषमाणायाः पतिः शुचायांश्च शुचस्य च।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ ऋ० १०.२६.६

वस्त्रों में धोती और उत्तरीय का स्थान मुख्य था। नीचे के वस्त्र को वासस और उत्तरीय को अधिवासस् के नाम से पुकारा जाता था। ऋषि मृगचर्म का भी प्रयोग वस्त्र के रूप में करते थे[६]। कृष्णजिनों का यज्ञों में, वृषभचर्म का कृषि में बहुधा प्रयोग था[७]।

कम्बल और शामुल्य

कम्बल[८] और शामुल्य[९] स्त्रियों और पुरुषों के नित्य के पहनने के वस्त्र थे। कम्बल से शायद कम चिकने ऊनी कपड़े का तात्पर्य रहा हो। शामुल्य समूर का बना कपड़ा होता था[१०]। इसके सम्बन्ध में विमलचन्द्र सरकार का[११] और ही मत है। उनके अनुसार शामुल्य रुई भरा कोई कपड़ा था। वे हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि आधुनिक शमला जो एक शाल है और जिसका व्यवहार पगड़ी पर के बन्द के लिये होता है। यह धारणा सभी विद्वानों को मान्य नही है। शामुल्य को रूई से भरा वस्त्र मानने में सन्देह होता है क्योंकि ऋग्वेद में रूई का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। शामुल्य तो समूर शब्द का प्राचीन रूप मात्र है अब भी जिसका अर्थ रोयेंदार चमड़ा होता है।

कताई-बुनाई

कताई और बुनाई का कार्य प्राय: स्त्रियों के जिम्मे था। अथर्ववेद के एकरूपक में रात्रि और दिवा को भागिनी मानकर उन्हें वर्ष रूपी कपड़े को बुनने वाला कहा गया है[१२]। वैदिक वाङ्मय में इस कला से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुये है जिनमें बुनाई सम्बन्धी शब्द ओतु,[१३] तन्तु, (सूत)[१४] तन्त्रं (तना),[१५] वाय (बुनकर),[१६] आदि ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।

पहनने के कपड़े —

ऋग्वेद[१७] और बाद के साहित्य में वासस् शब्द का व्यवहार इसके लिये हुआ है। वसन[१८] और वस्त्र[१९] का भी यही अर्थ होता है। सुवसन[२०] का व्यवहार सुन्दर कपड़ों तथा अच्छी तरह पहने गये कपड़ों के लिये होता था[२१]। सुवासस् विशेषण का प्रयोग अच्छे कपड़े पहनने वाले के लिये हुआ है[२२]। सुरभि[२३] शब्द से पता चलता है कि पहनने के कपड़े शरीर पर ठीक बैठते थे। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि अच्छे कपड़े पहनने वालों का समाज में सम्मान होता था। कपड़े पर कढ़ाई का काम होता था। मरूद्गण स्वर्णिम कवच धारण करते थे[२४]। सिच्[२५] शब्द से कसीदा किये हुये किनारे या झालर का बोध होता है।

कसीदे का काम —

पेशस्[२६] शब्द का व्यवहार सुन्दर बनाने के काम वाले वस्त्रों के लिये हुआ है। स्त्रियों के लिये पेशसकारी शब्द का व्यवहार हुआ है जिससे पता लगता है कि इस कार्य को ये ही मुख्य रूप से करती थीं।

ऋग्वैदिक आर्यों के वस्त्र

कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक आर्य संभवत: तीन कपड़े पहनते थे नीवि,[२७] वासस्[२८] और अधिवास। इन वस्त्रों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[२९] में भी प्राप्त होता है[३०]। यहाँ राजा को वस्त्र पहनाने का उल्लेख है। वस्त्रों में एक 'तार्प्य' होता है जिसमें यज्ञ सम्बन्ध चित्र सिले रहते हैं। यहीं पर ऊन का कपड़ा पहनाने का उल्लेख है। ऋग्वैदिककालीन वस्त्र भी शतपथ-ब्राह्मण कालीन वस्त्रों की पूर्व परम्परा के द्योतक हैं।

नीवि —

यद्यपि नीवि का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता है। शतपथ-ब्राह्मण में इसका उल्लेख न्यौली या पेटीकोट के लिये माना जा सकता है। अथर्ववेद[३१] में भी इसका

उल्लेख बन्धन मुक्त अधोवस्त्र के लिये ही प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में वासस् के बाँधने का उल्लेख है। पुरुष और स्त्रियाँ शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये उपवसन भी धारण करती थी। उपवसन[३२] का सन्दर्भ नवविवाहिता के वस्त्रों से पता लगता है। संभवत: यह दुपट्टे की तरह कोई उत्तरीय जैसा वस्त्र होता था। मुद्गलानी के उपवसन[३३] का हवा में उड़ने से उस तथ्य की पुष्टि होती है कि यह कोई उपवस्त्र ही था। यह राजाओं का भी ऊपरी वस्त्र था[३४]। प्रतिधि[३५] विवाह के समय कन्यायें पहनती थी।

१. अत्क — अत्क[३६] शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में पहनने के कपड़े के अर्थ में हुआ है। यह पुरुषों का परिधान था। अत्क पूरा शरीर ढकने वाला, लम्बा, शरीर से चिपककर बैठने वाला, चमकीला, सुन्दर तथा स्वर्ण के तार से बना हुआ वस्त्र होता था।

२. द्रापि[३७] — यह चिपक कर बैठने वाला, कढ़ाई किया हुआ, कोटनुमा वस्त्र था जिसे संभवत: स्त्री एवं पुरुष दोनों धारण करते थे।

३. उष्णीष — इसका प्रयोग पगड़ी के अर्थ में ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता लेकिन ऐतरेय[३८] एवं शतपथ ब्राह्मण[३९] में इस शब्द का प्रयोग राजाओं के पहनावे के सम्बन्ध में आया है। मैत्रायणी संहिता में भी इसका उल्लेख मिलता है। मै० सं० ४.४.३ में पगड़ी के अर्थ में प्रयुक्त 'उष्णीष' शब्द का अर्थ गर्मी को मारने वाला होता है। यह अनेक रंगों की होती होगी क्यों कि अभिचार (शत्रु-मारण आदि) के यज्ञों में 'ऋत्विक्' लोग लाल उष्णीष पहन कर काम करते हैं[४०]। कपड़ों का निर्माण करने के लिए जुलाहे[४१] का सन्दर्भ भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वटूदरिणा पदा' मन्त्रांश से जांघ तक लम्बे जूते का तात्पर्य लेते हैं[४२]।

अत: ऋग्वैदिक आर्य पहनने के कपड़ों में मुख्य रूप से नीवि, अधिवास्, और वासस् के साथ, अत्क, द्रापि एवं उष्णीष का प्रयोग करते थे।

आभूषण

ऋग्वेद में आभूषण से सम्बन्धित उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। संभवत: आर्य स्त्री पुरुष दोनों ही सुवर्ण निर्मित कुण्डल,[४३] माला,[४४] निष्क,[४५] कङ्कण,[४६] नुपुर[४७] तथा रुक्म[४८] आदि पहनते थे। इसके साथ ही मणिग्रीव[४९] पहनने का परिचय भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में देवों से कामना की गयी है कि वे हमें कानों में सोने के आभूषण पहने हुये तथा गले में मणियों को धारण किये हुये सुन्दर पुत्र दें।

हिंरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वें वरिवस्यन्तु देवाः।
अर्यो गिरंः सद्य आ जम्मुषीरोस्राश्चाकन्तुभयेंष्वस्मे॥ ऋ० १.१२२.१४

अर्थात् ये कानों में पहनने वाले स्वर्ण निर्मित आभूषण कुण्डल के द्योतक है। मणिग्रीव भी गले में पहनी जाती थी। विवाह के समय वर आभूषण धारण करता था[५०]। आभूषण बनाने वाले सुनार को 'निष्कं वा घा कृण्वते'[५१] कहा गया है। आर्य अपने अश्वों को भी आभूषणों के द्वारा सज्जित करते थे। इसके अतिरिक्त आर्य प्रकृति प्रदत्त अपने केशों की सज्जा के द्वारा शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना जानते थे[५२]।

अतः आर्यों के सामाजिक जीवन में आभूषणों का भी उचित स्थान था।

वेश-भूषा के उपर्युक्त सन्दर्भों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आर्य जन सामुदायिक रूप से धर्मनिष्ठ एवं प्रवृत्ति से नैतिक होते हुए भी व्यक्तिगत जीवन में सौन्दर्य के प्रति सजग रहते थे। केशसज्जा से लेकर चरण तक की सुन्दरता को विभिन्न सजावटों के माध्यम से शरीर के सौन्दर्य को उभारते थे। विविध धातुओं से निर्मित वस्त्रों का उपयोग एवं उसे विविध कलाकृतियों का रूप देने की चेष्टा आर्य जनजाति के नागर विकास का परिचायक है।

भोजन-पान

ऋग्वैदिक जन भोजन में मुख्य रूप से अन्न और दूध का प्रयोग करते थे। अन्न में 'यव' एवं शालि या ब्रीहि का स्थान मुख्य था। दूध से बनी हुई वस्तुओं में घृत का महत्त्व प्राण के समान था। इसीलिए वैदिक साहित्य में घृत का तादात्म्य प्राण, रस अन्न, बल, आयु आदि से स्थापित किया गया है। फलों और सब्जियों का भी प्रयोग होता था। किन्तु किसी विशिष्ट वस्तु का नाम नहीं लिया गया है। केवल वनस्पति-औषधि आदि नामों से ही इन्हें अभिहित किया गया है[५३]।

आर्यों के भोजन में फल, दूध, दही,[५४] घी, पनीर[५५], मधु, अयूप,[५६] सत्तू[५७] और मांस का प्रयोग होता था। मांस में मुख्य रूप से भेड़-बकरी आदि अनिन्द्य पशुओं का मांस ही भक्ष्य था। गाय के प्रति वैदिक आर्यों का दृष्टिकोण पवित्र था और उसे बड़े आदर के साथ पूजनीय मानते थे[५८]। ऋग्वेद में अतिथिग्व[५९] नामक राजा का उल्लेख मिलता है। यह सुदास के पिता राजा दिवोदास की उपाधि थी। कुछ विद्वान इसका अर्थ गोमांस से अतिथियों का सत्कार करने वाला मानते हैं। किन्तु इस प्रकार के संदर्भ विवादित हैं[५९]। ऋग्वेद में गायों का कल्याण के लिये आह्वान किया गया है[६०]। हिंसक जन्तुओं से उनकी रक्षा की कामना की गयी है[६१]। ऋग्वेद के सूक्तों की परम्परा से गायों के प्रति जन-भावना का आभास होता है

आर्यों को गन्ने का भी ज्ञान था और वे इसके प्रयोग से भी अच्छी तरह परिचित थे[६२]। यहाँ पर जिस अन्न से तादात्म्य जोड़ा गया है इससे उस काल में गन्ने के उपयोग

का परिचय मिलता है। सुरा[६३] का सेवन निन्दनीय माना जाता था[६४] क्योंकि इसके कारण सभा में कलह[६५] होना स्वाभाविक था। परन्तु सोमरस का पान धर्म के अनुकूल माना जाता था जो कि सुरा से सर्वथा पृथक् एक लता विशेष का रस था। ऋग्वेद के नवम मण्डल एवं छः अन्य सूक्तों में सोम की प्रशंसा की गयी है। यह लता या पौधा मूजवन्त[६६] पर्वत पर या कीकर[६७] देश में पैदा होता था। इसे गोचर्म पर रखकर तैयार करते थे। इसका रस निकालने के लिये इसे पत्थर पर रखकर[६८] मूसल अथवा पत्थर से कूटते थे। यह निकला हुआ रस मेष लोम के बने छन्ने से छानकर[६९] कलश या गोचर्म निर्मित पात्र में भर लिया जाता था। सोम का रस भूरा तथा पिङ्गल वर्ण का होता था[७०]। इस प्रक्रिया के बाद इसमें पानी, दूध, दही, सत्तू, शहद[७१] आदि मिलाये जाते थे। यह एक मादक एवं उल्लास वर्धक रस था[७२]। योद्धा युद्ध के समय इसका उपयोग करते थे[७३]।

खान-पान से सम्बन्धित सामग्रियों में मूसल, चटनी, सूप सोमपान के पात्र, चर्मनिर्मित पात्रों के साथ भोजन बनाने के पात्रों का भी उल्लेख है। कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति और पेशे के अनुसार ऋग्वैदिक परिवारों में इन पात्रों का प्रयोग होता था। ये पात्र सोने, ताबें, लोहे, काष्ठ, चर्म या मिट्टी के होते थे। अन्न से सम्बन्धित धान्य में यव[७४] का सन्दर्भ कई बार आया है। इससे कहा जा सकता है कि यव ही इनका मुख्य अन्न था। कुछ विद्वान् इसका अर्थ मक्का के साथ करते हैं। उनका यह तथ्य तर्क सङ्गत नहीं है। आज भी देवताओं की पूजा के लिये यव, प्रधान अन्न के रूप में उपयोग किया जाता है। यह प्रथा संभवतः ऋग्वेद काल से चली आ रही है। इस तरह से यव और चावल को ही उस काल का प्रधान अन्न मानना उचित है। अपूप, यव अथवा चावल के द्वारा घी मिलाकर बनाया जाता था[७५]। ओदन का अभिप्राय रसोईघर से लिया जाता है जहाँ दूध के साथ विशिष्ट व्यञ्जन बनाये जाते थे। सभी निर्मित खाद्य पदार्थों को पक्व कहा जाता था[७६]।

दूध एवं इसके द्वारा निर्मित विभिन्न पदार्थ खाने के उपयोग में लाये जाते थे। प्रारम्भ से ही यह वास्तविकता थी कि प्रत्येक परिवार के पास गाएँ होती थी। ऋषियों को उपहार में गाय देने की प्रथा का भी सङ्केत मिलता है। जिससे कहा जा सकता है वैदिक आर्य दुग्ध प्रेमी थे, विशेष रूप से उन्हें गाय का दूध प्रिय था। इसे ऋग्वेद में पयस्[७७] कहा गया है। घी का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार हुआ है[७८]।

मांस भक्षण —

मांस वैदिक आर्यों का नित्य-नैमित्तक खाद्य पदार्थों में से था। आर्य जब खेती करने के लिये आये तो उसका वातावरण ठंडा था। इस विशेष मौसम के कारण ही

वर्ष को हिमा कहा गया है जो वर्ष के अधिकतर भाग में बना रहता था[७९]। संभवत: इस विशेष मौसम के कारण ही आर्यों में मांस भक्षण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई हो जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने मांस खाना प्रारम्भ किया था । यज्ञ के अवसरों पर देवताओं को प्रसन्न करने के लिये भी मांस प्रयोग प्रारम्भ किया गया । मछली का प्रयोग संभवत: खाने के लिये नहीं होता था जबकि ऋग्वेद में इनका सन्दर्भ प्राप्त होता है । संभवत: मछली का उपयोग निम्न श्रेणी के आर्यों के द्वारा किया जाता रहा हो[८०]। सामान्य रूप से ये जौ का आटा, चावल, दूध एवं इससे निर्मित विभिन्न खाद्य सामग्रियों तथा मांस, फल, शहद इत्यादि का प्रयोग खाने एवं पीने के लिये करते थे[८१]। यहाँ ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में लवण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि यज्ञीय प्रक्रिया में इसके प्रयोग का अभाव रहा हो एवं आर्य इससे परिचित न रहे हों यह संभव नहीं है । क्योंकि आर्य 'सलिलं' शब्द का प्रयोग नमकीन पानी के लिए ही करते थे।

ऋग्वेद में पितु को सम्बोधित करते हुये 'अन्न' के लिये एक सम्पूर्ण सूक्त कहा गया है जिसमें स्तुति की गयी है —

'मैं क्षिप्रकारी होकर विशाल, सबके धारक और बलात्मक पितृ (अन्न) की स्तुति करता हूँ'। उनकी ही शक्ति से त्रितदेव या इन्द्र ने वृत्र की सन्धियां काटकर उसका वध किया था[८२]।

आर्यों का उद्घोष था — जिसका मन उदार नहीं है, उसका भोजन करना वा अन्न उत्पादन करना वृथा है । उसका भोजन करना वा अन्न उत्पादन करना उसकी मृत्यु के समान है । जो न तो देवता को देता है, न मित्र को देता है, प्रत्युत स्वयं ही भोजन करता है, वह केवल पाप ही खाता है[८३]।

मनोरञ्जन

ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण था । प्रकृति की गोद में पलते हुये उन लोगों ने प्रकृति के साथ नर्तन और गायन भी सीखा। उनके जीवन में संगीत का रस इतना घुल मिल गया कि उनके मुख से निकले हुये एक-एक शब्द सङ्गीत के आरोह अवरोह में प्रतिबद्ध थे । ऋग्वेद का प्रत्येक मन्त्र इसका प्रमाण है। प्रकृति में वर्षा के आगमन के साथ मण्डूकों ने जब अपना गान किया तो उसका अनुकरण यज्ञ की वेदी के पास बैठे हुये व्रत का चरण करने वाले ब्राह्मणों ने किया। गोमन्त (स्तोता) जिस ओर भी प्रवाहित हुए उसी ओर उन्होंने संगीत की लय से मानव कर्ण को लयमय बना दिया । यदि एक ओर गायन करने वाले कारुओं ने अपने अभीष्ट देवताओं को और यजमानों को आनन्दित किया तो दूसरी ओर उत्सवों में संगमन करने

वाली नृत्यांगनाओं ने जनमानस को आह्लादित किया। पुरुषों ने भी इस नृत्य में उनका साथ दिया[८४]। ऋग्वेद में संवाद सूक्तों से ऐसा मालूम होता है कि आज के नाटक का उद्भव उसी काल में हो चुका था। अनेक क्रीडाओं में जुआ खेलने की प्रथा उस काल में बहुत ही लोकप्रिय थी। यद्यपि इस क्रीडा को सामाजिक अपराध के रूप में स्वीकार किया जाता है।

आखेट —

आर्य पशुपालन और खेती के अतिरिक्त शिकार भी किया करते थे। इससे क्षुधा पूर्ति के साथ, मन बहलाव और पशुओं तथा खेती की रक्षा में सहायता मिलती थी। शिकार करना आर्यों की आवश्यकता थी न कि मनोरञ्जन का साधन। यह उनके जीवन का एक अंग बन चुका था। बकरी भेड़ इत्यादि पालतू पशुओं को सुरक्षित रखने के लिए शिकार करना और भी आवश्यक हो गया था। शिकार करने के तथ्यों को उद्घाटित करने में ऋग्वेदं हमारे लिए प्रमुख स्रोत है। इसके लिये कभी-कभी तीर[८५] का भी प्रयोग होता था। सामान्यतया साधारण औजारों के माध्यम से ही यह कार्य किया जाता था। पक्षियों को हमेशा जाल के माध्यम से पकड़ा जाता था[८६]। पक्षी पकड़ने वाले को 'निधापति'[८७] कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि शिकार करना मनोरञ्जन का साधन नहीं था बल्कि यह आवश्यक हो गया था। मनोरञ्जन के साधनों में रथों और घोड़ों की दौड़ आर्यों का प्रिय साधन था। इस दौड़ को आजि और दौड़ के मैदान को 'काण्ठा' या सप्ता[८८] कहते थे। ये मैदान बड़े-बड़े होते थे और नाप कर बनाये जाते थे। रथों में चार घोड़े जोतने का भी उल्लेख मिलता है[८९]।

अश्वारोहण —

मैक्डॉनल के अनुसार युद्ध में अश्वारोही का उल्लेख नहीं प्राप्त होता[९०]। ऋ० १.१६२.७ में उल्लेख है कि 'मनोहर पृष्ठ विशिष्ट अश्व देवों की आशापूर्ति के लिए आवें। देवों की पुष्टि के लिये हम उसे अच्छी तरह-बांधेंगे' एक जगह और उल्लेख है[९१] कि तुम लोगों के अश्व कहाँ है ? लगाम कहाँ है ? शीघ्र गमन में समर्थ होते हो ? किस प्रकार का गमन है ? अश्व के पृष्ठ देश पर आस्तरण और नासिकाद्वय में बन्धन रज्जु लक्षित होते हैं ?

'अश्वों के जघन देश में, शीर्घ गमन के लिए कशाघात होता है। पुत्रोत्पादन काल में जैसे रमणियाँ उरुद्वय को विवृत करती हैं, उसी प्रकार नेता मरूद्गण अश्वों को उरुद्वय विवृत करने के लिये बाध्य करते हैं।'

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में अश्वारोहण एक कला के रूप में प्रतिष्ठित था। इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य मनोरंजन के साधन के रूप में अश्वारोहरण करते थे संभवतः युद्ध के समय में इसका भी सदुपयोग होता रहा हो।

द्यूत या जुआँ —

यह वैदिक काल का लोकप्रिय किन्तु गर्हित खेल था। इसे मनोरञ्जन का साधन कहना तर्क संगत नहीं है। जुआड़ी की दशा को ऋग्वेद में बहुत ही रोचक ढंग से वर्णित किया गया है। ऋ०१०.३४ में पॉसों के सन्दर्भ में उल्लेख है कि[९२]— बड़े-बड़े पांसे जिस समय फलक पर इधर-उधर चलते हैं, उस समय उन्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। मुञ्जवान पर्वत पर उत्पन्न हुई उत्तम सोमलता का रस पीकर जैसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही बहेड़े (वृक्ष) के काठ से बना अक्ष मेरे लिये आनन्द दाता है।

मेरी यह रूपवती पत्नी मुझसे कभी उदासीन नहीं हुई, न कभी मुझसे लज्जित हुई। वह पत्नी मेरी और मेरे बन्धुओं की विशेष सेवा सुश्रूषा करती थी किन्तु केवल पांसे के कारण मैंने उस परम अनुरागिणी भार्या को छोड़ दिया।

जो जुआड़ी जुआ खेलता है, उसकी श्वसा उसकी निन्दा करती है और उसकी स्त्री उसे छोड़ देती है। जुआड़ी किसी से कुछ मांगता है तो उसे कोई नही देता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं खरीदता, वैसे ही जुआड़ी का कोई आदर नहीं करता।

पांसे का आकर्षण बड़ा कठिन है। यदि किसी के धन के प्रति अक्ष की लोभ दृष्टि हो जाय तो पाँसे वाले की पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है। जुआड़ी के माता, पिता और सहोदर भ्राता कहते हैं — 'हम इसे नहीं जानते, इसे पकड़कर ले जाओ'।

इस सूक्त के तेरहवीं ऋचा में जुआड़ी को उपदेश दिया गया है कि— जुआरी कभी जुआ नहीं खेलना, खेती करना। कृषि से जो कुछ लाभ हो उसी से सन्तुष्ट रहना तथा अपने को कृतार्थ समझना। इसीसे स्त्री और अनेक गायें भी प्राप्त करोगे। सूर्यदेव ने मुझसे ऐसा कहा है। सम्पूर्ण सूक्त में अक्ष की महिमा और जुआड़ी की दयनीय दशा का वर्णन किया गया है। इसमें पांसों की संख्या तिरपन बतायी गयी है। इस खेल को सामान्य जन से लेकर राजा तक खेला करते थे। पांसो को राजा के द्वारा नमस्करणीय कहा गया है। इतना महत्त्वपूर्ण होते हुये भी इस खेल को समाज में आदरणीय नहीं माना जाता था एवं खेलने की निन्दा की जाती थी।

नृत्य —

पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों नृत्य करते थे। लेकिन दोनों के साथ-साथ नृत्य करने का सन्दर्भ नहीं मिलता। ऋग्वेद[९३] में नर्तक वंश खण्ड को ऊँचा उठाने वाला कहा गया है। संभवत: यह नृत्य के समय प्रयुक्त होता रहा हो। पुरुष नर्तक को 'नृत' तथा स्त्री को 'नृतु' कहा गया है[९४]। नर्तकी, नर्तन के समय आभूषण धारण करती थी तथा आकर्षित करने के लिये अपने वक्ष को प्रकट करती थी[९५]। सामान्य रूप से इस तरह का नर्तन सम्मानित महिलायें पसन्द नहीं करती थी[९६]।

संगीत—

ऋग्वेद काल में संगीत पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था। शान्ति एव युद्ध के समय 'दुन्दुभी'[९७] वाद्य का प्रयोग होता था। वाद्य यन्त्रों में कर्करी[९८] का भी प्रयोग किया जाता था। कर्करी, बांसुरी की तरह का एक वाद्य यन्त्र था। वाद्य यन्त्रों में अघाति[९९] का सन्दर्भ भी मिलता है। यहाँ आघाति का अर्थ 'वीणा' से लिया गया है। मैक्डॉनल एवं कीथ के अनुसार इसका प्रयोग संयुक्त रूप में गायन के समय होता था। सायण भी इसका अर्थ वीणा ही लेते हैं। मैक्डॉनल का तर्क भी ठीक ही है क्योंकि सोमाभिषव के साथ सात स्त्रियों के संयुक्त गायन का सन्दर्भ प्राप्त होता है[१००]। 'गाथा पति' को गायन का देवता कहा गया है[१०१]। दानस्तुति का सन्दर्भ विशेष रूप से राजाओं अथवा देवताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है।

अश्लील परिहास —

तत्कालीन अश्लील परिहास का उदाहरण ऋग्वेद में इन्द्र और इन्द्राणी के संवाद[१०२] में मिलता है। आसंग की भार्या शश्वती का उद्गार भी इसका एक उदाहरण है[१०३]।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में नर एवं नारियां मुक्त रूप से नृत्य एवं गायन का आनन्द लेते थे। दुन्दुभि, मृदंग और वीणा आदि वाद्य घोषों से समाहित नृत्य गान का अधिक प्रचलन था जिसमें नर-नारी सहभागी होते थे। रथधावन और अश्वधावन विहार के साधन थे। द्यूतक्रीडा परम प्रिय थी। जीवन मनोरंजन के साधनों से परिपूर्ण था।

सन्दर्भ

१. आचार्य बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२०
२. ऋ० १०.७५.८

३. ऋ० १.१२६.७

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥'

४. ऋ० ४.२२.२
५. ऋ० १०.२६.६
६. डॉ० सिद्धनाथ शुक्ल, ऋग्वेद चयनिका, पृष्ठ २९
७. कुँवरलाल जैन, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९३
८. अथर्व० १४.२.६६ एवं ६७
९. ऋ० १०.८५.२९ अथर्व० १४.१.२५

परा देहि शामुल्यम् 'मलस्य धारकं वस्त्रम्' शामूल-ऊनी परिधान

१०. डॉ० मोतीचन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय वेषभूषा, लीडरप्रेस, इलाहाबाद
११. सरकार, सम आसपेक्ट्स आफ दि अर्लियस्ट सोशियल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ५९ फु० नोट - ६
१२. अथर्व० १०.७.४२
१३. ऋ० ६.९.२ एवं ३
१४. अथर्व० १४.२.५ एवं ऋ० ६.९.२ एवं ३
१५. ऋ० १०.७१.९
१६. ऋ० १०.२६.६
१७. ऋ० १.३४.१, ११५.४, ८.३.२
१८. ऋ० १.२६.१ वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते ।

सेमं नो अध्वरं यज ॥

१९. ऋ० ६.५१.४
२०. ऋ० ९.९७.५०
२१. अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाऽभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।

अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याऽभ्यश्वान् रथिनो देव सोम ॥ ऋ० ९.९७.५०

२२. ऋ० ३.८.४
२३. ऋ० ६.२९.३
२४. ऋ० ५.५५.६
२५. Suryakanta, *A Practical Vedic Dictionary*, p. 702.
२६. ऋ० ४.३६.७, ऋ० २.३.६ यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती ॥
२७. अथर्व ८.२.१६ एवं १२.२.५०
२८. ऋ० १.१४०.९, १०.५.४

अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः ।
वयो दधत् पद्वते रेरिहत् सदाऽनु श्येनी सचते वर्तनीरह ॥ १.१४०.९

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते ।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम् ॥ ऋ० १०.५.४

२९. शतपथ ब्राह्मण ५.३.५.२० अथैनं वासा ꣳसि परिधापयति
३०. शतपथ १०.१.११
३१. अथ० ८.२.१६ एवं ८.६.२०
३२. अथ० १४.२.४ एवं १९
३३. ऋ० १०.१०२.२
३४. शत० ५.४.४.३ अथाधीवासमास्तृणीति
३५. अथ० १४.१.७
३६. ऋ० ४.१६.५, ५.७४.५, ६.२९.३, १.१२२.२
३७. ऋ० १.२५.१३, ९.१००.९, अथ० १३.३.१, ५.७.१०
३८. ऐतरेय ब्राह्मण ६.१
३९. शतपथ ३.३.२.३, ५.३.५.२३
४०. आचार्य बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२३
४१. ऋग्वेद १०.१०६.१
४२. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृष्ठ २००
४३. ऋ० १.१२२.१४
४४. ऋ० ५.५३.४
४५. ऋ० २.३३.१०
४६. ऋ० ५.५८.३
४७. ऋ० ५.५४.११
४८. ऋ० २.३४.२४
४९. ऋ० १.२२.१४
५०. ऋ० ५.६०.४
५१. ऋ० ८.४७.१५
५२. ऋ० १०.११४.३, ७.३३.१, २.११.१७, १०.१४२.४, १.१७३.६
८४. ऋ० १०.७६.६
८५. ऋ० २.४२.२
८६. ऋ० १११.४५.१; ६.४८.१७
८७. ऋ० ९.८३.४
८८. ऋ० ८.४१.४
८९. ऋ० १.१२५.४
९०. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५०
९१. ऋ० ५.६१.२, ३
९२. हिन्दी ऋग्वेद, पृष्ठ १२६१

९३. ऋ० १.१०.१
९४. ऋ० १.१२.४; ८.६८.७
९५. ऋ० १.९२.४
९६. ऋ० ८.१७.७, २६.१३
९७. ऋ० १.२८.५, ६.४७.२९, ३१
९८. ऋ० २.४३.३
९९. ऋ० १०.१४६.२
१००. ऋ० ९.६६.८
१०१. ऋ० १.१९०.१
१०२. ऋ० १०.८६.१६ एवं १७
१०३. ऋ० ८.१.३४

* * *

पञ्चम अध्याय

ऋग्वैदिक समाज में कृषि व्यवस्था

ऋग्वेद में समाज का भरण पोषण करने वाले वर्ग को 'कृष्टी' या विश् नाम दिया गया है। यह वर्ग समाज में अत्यधिक प्रभावशाली होता था। इस वर्ग का मुख्य कार्य कृषि कर्म एवं पशुपालन था। सभी व्यवसायों में सम्भवत: कृषि ही प्रधान थी, क्योंकि ऋग्वेद १०.३४ में सभी कर्मों को छोड़कर कृषि करने की सलाह दी गई है (कृषिमिति कृषष्व)[१]। अपनी आवश्यकता के अनुरूप किसी भी समाज को अपने खाद्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। पृथिवी से अन्न, फल, कन्दादि की उत्पत्ति करना ही कृषि कर्म है[२]। कृषि के लिये पहली आवश्यकता भूमि ही है। वैदिक वाङ्मय में भूमि विशिष्ट रूप से प्रतिष्ठित है। अथर्ववेद[३] में इसके लिये सम्पूर्ण सूक्त समर्पित है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का विचार है[४] कि 'आर्यों का मुख्य धन गाय, घोड़े और भेड़-बकरियाँ थी। वह कुछ खेती भी करते थे, क्योंकि जौ का सत्तू और रोटी उनके आहार में शामिल थे। अधिक धनी और प्रभुताशाली आर्य अपने पशुपालन और कृषि में दासों और दासियों से सहायता लेते थे। आखिर पचास-पचास दासों और दासियों के रखने का क्या प्रयोजन हो सकता था। साधारण स्थिति के आर्य स्वयं कृषि और पशुपालन किया करते थे। ऋग्वेद में भूमि को उसकी उर्वरा शक्ति के अनुसार तीन प्रकार का बताया गया है, अर्तना, अप्नस्वती, तथा उर्वरी[५]। भूमि के गुणों के विषय में कहा गया है कि[६] —

तदिद्ध्वंदन्त्यद्रंयो विमोचंने यामंन्नञ्जस्पा इंव घेदुंपब्दिभिंः
वपंन्तो बीजंमिव धान्याकृतंः पृञ्चन्ति सोमं न मिंनन्ति बप्संतः ।

ऋ० १०.९४.१३

शतपथ ब्राह्मण में कृषि की चार अवस्थाओं का वर्णन है,[७] जुताई, बुवाई, कटाई और सफाई। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के हलों का भी उल्लेख मिलता है जो क्रमश: छ:, आठ और बारह बैलों द्वारा चलाये जाते थे[८]।

इन सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य कृषि कर्म करने के साथ ही साथ इस क्षेत्र में उन्हें विस्तृत तथा सुसम्बद्ध ज्ञान था। कृषि कार्यों को नियोजित ढंग से सम्पन्न करना तथा उसमें जिन साधनों की आवश्यकता थी उसकी

उत्कृष्टता का भी उन्हें ज्ञान था। कृषि कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिये आरम्भ में 'क्षेत्रपति' की पूजा का विधान भी निहित था[९]। इस पूजा को आग्रायण की संज्ञा दी गई। यहीं पर गहरी जुताई के महत्त्व को भी समझा गया है। वर्ष भर में कई फसलों के उगाये जाने और विभिन्न प्रकार के अन्नों के उगाये जाने का सन्दर्भ भी मिलता है[१०]। ऋ० १०.९०.६ से प्रतीत होता है कि वर्ष भर में तीन फसल होने का ज्ञान वैदिक ऋषियों को अच्छी तरह से था। यजुर्वेद में[११] यज्ञ के माध्यम से ब्रीहि, यव, माष, तिल, मूँग, गेहूँ, मसूर, चना, मक्का, कोदों तथा नीवार आदि धान्यों की याचना की गयी है जिससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदकालीन समाज विभिन्न प्रकार के अन्न के उत्पादन में सक्षम हो चुका था।

आर्यों को कृषि कर्म के लिये दैवी आज्ञा मिली थी। कहा गया है कि 'अश्विनद्वय ने मनुष्यों को कृषि कार्य की शिक्षा दी थी। इन्होंने आर्य मानव के लिये हल द्वारा खेत जुतवाकर, यव वपन कराकर तथा अन्न के लिए वृष्टि वर्षण करके उसे विस्तीर्ण ज्योति प्रदान की'[१२]। इन्द्र को कृषि का देवता माना गया है[१३]।

प्रारम्भ में जौ एवं धान्य ही आर्यों की मुख्य फसल थी। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इनका प्रयोग प्रायः सभी अन्न के लिये हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वैदिक आर्य यव (जौ) एवं धान (चावल) से परिचित नहीं थे। यह सत्य है कि यव तथा धान (चावल) इनकी मुख्य फसलें थी। यव, बसन्त की फसल थी जो जाड़े में होती थी तथा धान वर्षा की फसल थी क्योंकि इसके लिये अधिक पानी आवश्यक था।

पानी के प्राकृतिक स्रोत के अलावा ऋग्वैदिक आर्य अपनी भूमि को सिंचित करने के लिये कृत्रिम सिचाई के साधनों का प्रयोग करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने कुओं एवं नहरों की व्यवस्था की थी[१४]। ऋग्वेद में 'कूप'[१५] शब्द का सन्दर्भ भी प्राप्त होता है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य कुओं का निर्माण करना जानते थे एवं इसका उपयोग सिंचाई के साधन के रूप में करते थे। आर्य नदियों से नहर निकालकर भूमि को सिंचित करने की कला से भी पूर्णताः परिचित थे[१६]।

ऋग्वेद में हल को लांगल कहा गया है[१७]। जिसका सन्दर्भ अथर्ववेद में भी मिलता है[१८]। इसके अग्रभाग को फाल कहते हैं[१९]। हल को जोतने के लिये प्रायः बैल को ही प्रयोग में लाया जाता था। ऋग्वैदिक काल में हल हल्का यन्त्र होता था जो दो बैलों के द्वारा चलाया जाता था जो बाद में बड़ा किया गया एवं कई बैलों के द्वारा चलाया जाने लगा[२०]। ऋग्वेद में घोड़ों द्वारा हल चलाये जाने का सन्दर्भ नहीं

मिलता। प्राय: खेती के लिए हल में[२१] बैल ही जोते जाते थे[२२]। खेतों में गोबर (करीष) की खाद देते थे और सिचाई भी करते थे[२३]। सिचाई करने वाले पुरुष धान्य की रक्षा करने के लिए शोर करके पक्षियों को उड़ाया करते थे[२४]। धान्य के पक जाने पर हसिये (दात्र[२५] या सृणि) से काटकर गठ्ठो[२६] में बाँध लेते थे और खलियान में लाकर[२७] और मलकर सूप[२८] (शूर्प) की सहायता[२९] से अन्न को भूसे से अलग करते थे। ये धान्य साफ करने वाले 'धान्यकृत्'[३०] कहे जाते थे। इस प्रकार से उत्पन्न किया हुआ अन्न ऊर्दर (नापने का पात्र) से नापकर[३१] अन्न रखने की कोठी[३२] (स्थिति) में भर दिया जाता था। उत्तर भारत में प्रचलित सत्तू वैदिक जनों का प्रिय भोजन था। इसे वे चलनी (तितउ) से चालकर प्रयोग करते थे। स्पष्ट है कि आर्य जन मिश्रित अन्न (चना एवं यव) का खूब प्रयोग करते थे। ऊर्दर शब्द ऋग्वेद[३३] में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है जहाँ सोम-द्वारा इन्द्र को उसी भांति परिपूर्ण करने का सन्दर्भ है जिस प्रकार एक व्यक्ति 'ऊर्दर' को अन्न (यव) से परिपूर्ण करता है। सायण इसका अनुवाद 'अन्नाकार' करते हैं। अन्न उपजाऊ खेत को आर्तन कहते हैं[३४]। खेतों का विभाजन भी होता[३५] था और उस पर व्यक्ति का अधिकार माना जाता[३६] था।

अत: कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का मुख्य कर्म कृषि ही था। वे कृषि के विकसित स्वरूप से परिचित थे तथा सिचाई के साधनों का भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वे पर्याप्त अन्न का भण्डार करते थे तथा यव को प्रधान अन्न मानते थे।

पशुपालन

आर्य पशु धन को मुख्य धन मानते थे। बैल[३७] हल चलाने या गाड़ी खीचने के काम आते थे। कभी-कभी इनका उपयोग युद्ध के रथों में भी होता था[३८]। गायों से दूध और घी मिलता था। घोड़ो[३९] का प्रयोग युद्ध, रथ खीचने और घुड़दौड़ में होता था। कभी-कभी गधे भी रथ खींचते थे और दान में दिये जाते थे[४०]। इनसे बोझा ढोने का काम भी लिया जाता था। भेड़, बकरी से ऊन मिलता था। भेड़ को ऊर्णवती[४१] कहा गया है। ऋग्वेद के इस सूक्त में जिसमें नदियों की प्रशस्ति है, लुड्विग इसे सिन्धु की एक धारा जिसका नाम ऊर्णवती था, का संकेत मानते हैं, फिर भी यह व्याख्या निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है। राँठ इस शब्द का अनुवाद केवल 'ऊन' प्रयुक्त करते हैं और त्सिमर लुड्विग की व्याख्या को इस आधार पर अस्वीकृत कर देते हैं कि इससे सूक्त का सारा स्वरूप ही अस्पष्ट हो जाता है। विल्सन इस शब्द को सिन्धु का एक विशेषण 'भेड़ो से परिपूर्ण' मानते हैं। ऋग्वैदिक आर्यों के लिए भेड़ से प्राप्त ऊन का विशेष महत्त्व था क्योंकि आर्य ठण्डे प्रदेश में निवास करते थे, तथा इस मौसम

से बचने के लिये भेड़ से प्राप्त ऊन ही उनका सहारा था। कुत्ते चौकीदारी करते, बोझा ढोते[४२] तथा शिकार में सहायता करते थे[४३]। ऊँट बोझ ढोने[४४] में या युद्ध में[४५] काम आते थे और ये दान में[४६] भी दिये जाते थे। हाथी[४७] सवारी के काम आता था और अंकुश के द्वारा[४८] वश में रक्खा जाता था। पशुपालन में भैंस[४९] का भी स्थान था तथा गाय, बकरी, भेड़ आदि पशु ग्वालों के संरक्षण में चरने जाया करते थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि —

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥ ऋ० १०.६२.७

इससे अनुमान होता है कि गायों आदि की पहचान के लिये उनके कानों पर चिन्ह बना दिये जाते थे। 'अष्टकर्ण्यः' से कान पर आठ के चिन्ह वाली गाय माना जाता है। यद्यपि इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। ग्रासमान उपर्युक्त अर्थ ही तर्कसंगत मानते हैं। कानों को चिह्नित करना एक नियमित प्रथा थी। अथर्ववेद[५०] में इसका दो बार उल्लेख है। चिन्ह को 'लक्ष्म'[५१] कहा गया है और इसे एक तांबे की छुरी[५३] से बनाया जाता था। मानव समाज के लिये पशु-पक्षियों का अनेक प्रकार का उपयोग है उनसे हम आहार के पदार्थ— दूध, घी, दही, औषधि, वस्त्र के लिए- ऊन, चर्म एवं ईधन, खाद्य तथा वाहन आदि के रूप में विशेष सहयोग प्राप्त करते हैं।

पशुओं में सर्वाधिक उपयोगी पशु आर्यों के लिये गौ है। गौ से मानव जाति का जीवन पालित एवं पोषित होता है। वेद मे कहा गया है — 'आयुर्वै घृतम्, तेजो वै घृतम्, पयोऽमृतम्' घृत हमारे जीवन में आयु का प्रदाता है। घृत हमारे जीवन को तेज प्रदान करता है, दूध अमृत है। जब घी और दूध हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर आयु, तेज और जीवन को देने वाले हैं। जब हम यज्ञ के द्वारा उनको पृथिवी और अन्तरिक्ष में व्याप्त करते हैं तो समस्त प्राणियों को आयु और तेज भी प्राप्त होता है अर्थात् यज्ञ के द्वारा घी और दूध की आहुतियों से विश्व को जीवन और आयु तथा पुष्टि अवश्य प्राप्त होती है और विश्व के समस्त प्राणी रोगरहित होते है। इसीलिये वैदिक ऋषियों ने 'गावो विश्वस्य मातरः'— कहा है। गौ मातृस्वरूपा है। विश्व का पोषण करने वाली है।

गाय के लिए दक्षिणा और अहन्या शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे स्पष्ट है कि जहाँ यह एक ओर वह मूल्य निर्धारण का माध्यम थी वहीं दूसरी ओर अहिंसित होकर अतिपवित्र थी। वह केवल मनुष्यों की दुग्धदात्री माँ नहीं थी अपितु मरूत् जैसे देवताओं की भी माँ कही जाती थी (गौ मातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिः)। पशु इत्यादि की रक्षा

के लिए सम्भवत: कुत्ते भी पाले जाते थे। यम के द्वार पर रक्षा हेतु नियुक्त दो कुत्ते (सारमेय) इसके प्रमाण हैं[५३]। पूषन् देवता की सवारी छाग (बकरी) है[५४] और प्रजापति को अज (बकरे) के नाम से अभिहित किया गया है[५५] जो उस काल में बकरी के महत्त्व का संकेत करता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन पशुपालन पर आधारित था। पशुओं से खाने के पदार्थों के अतिरिक्त पहनने के लिये वस्त्र भी प्राप्त होता था। अत: उनके जीवन में पशुपालन का विशेष महत्त्व था।

व्यापार एवं विनिमय

ऋग्वेदकालीन भारत में भूमि की कोई कमी नही थी जो इस बात से स्पष्ट है कि वेदों में हमें व्यक्तिगत स्वामित्व के सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते। राष्ट्रीय सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए पर्वतों एवं नदियों का बाहुल्य भारत की अमूल्य निधि प्रारम्भ से ही रही हैं जिनका वेदों में स्पष्ट उल्लेख है[५६]। ऋग्वेद में भारत की तत्कालीन नदियों का उल्लेख मिलता है[५७]। इन समस्त नदियों द्वारा सींची जाने वाली ऋग्वैदिक भारत भूमि का विस्तार उत्तर में कुमायूँ क्षेत्र, पश्चिम में अम्बाला, जालन्धर, लाहौर, रावलपिण्डी, सम्पूर्ण पंजाब (विभाजन से पहले का) एवं अफगानिस्तान से पूर्वी भाग तक, दक्षिण में सारस्वत समुद्र, तथा पूर्व में तिब्बत तक फैला बताया गया है[५८]। इस प्रकार वर्तमान भारत की सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि पर तथा उसके बाहर भी ऋग्वैदिक भारत का विस्तार था। जनसंख्या के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भारत में जनशक्ति की न्यूनता ही रही होगी अन्यथा विवाह के अवसर पर वर-वधू को कम से कम दश पुत्रों के माता-पिता होने का आशीर्वाद न दिया जाता। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि वैदिक भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता थी। आर्थिक समस्या का प्रश्न अपेक्षाकृत महत्त्वहीन था। संभवत: यह समाज निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में था। इस प्रकार एक ऐसे समाज में जहाँ प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता हो, जनसंख्या न्यून हो, विकास पुनर्निमाणात्मक न होकर प्रारम्भिक व मौलिक हो, इस स्थिति में आर्थिक समस्या सम्बन्धी प्रश्न निस्सन्देह गौण हो जाते हैं और साहित्य में भौतिक और आर्थिक विचार के सापेक्षिक अभाव की यही व्याख्या हो सकती है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वैदिक ऋषि भौतिक सुख एवं कल्याण की भावना से अनभिज्ञ थे। सार्वजनिक कल्याण एवं सुख की चाह से प्रेरित होकर ही ऋषियों ने 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:' की कामना की। वैदिक परम पुरुष तथा अन्य आराध्य देवों की उपासना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गयी है।

मन्त्रदृष्टा ऋषि के लिए यह दैविक स्वरूप, नैतिक विधान, शारीरिक तथा भौतिक विधान का स्रोत तथा मौलिक जीवन का सिद्धान्त है। पूजाकार के लिए वह भौतिक सम्पत्ति का स्रोत स्वयं बलिदान स्वरूप है। दार्शनिक के लिये वह संयम का स्रोत तथा अनेकों में एक तथा परम-ज्ञान है। जब ऋषि परम पुरुष या किसी अन्य देवों को भौतिक सम्पत्ति का स्रोत मानकर उसका पूजन करता है तो उसे यह बात स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कल्याण तथा भौतिक सुख का साधन भौतिक समृद्धि अथवा धन ही है। यद्यपि ब्राह्मण के लिए धन लोलुप होना महान पाप माना गया है, पर संसार में कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है जहाँ पर अपने परिवार के पालन पोषण करने का कर्तव्य भारत की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से निभाया गया हो। धन चाहे पशुरूप में हो या किसी अन्य रूप में, सदा वाञ्छनीय माना गया है। ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के धन की वाञ्छनीयता, तथा निर्धनता की बुराइयों का उल्लेख विभिन्न देव स्तुतियों में मिलता है[५९]। वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन ही था। इसलिये पशुओं के रूप में ही धन की गणना होती थी।

> सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
> दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ऋ० १०.४७.४

उपरोक्त मन्त्र में इन्द्र से धन की कामना की गयी है। वेदों में समृद्धि के लिये बहुत से गुण बताये गये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में धन की धारणा विशेषकर सर्वजनहित सम्बन्धित थी। धन और कल्याण दोनों को परस्पर सम्बद्ध माना जाता था। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि समृद्धि के लक्षणों के रूप में जो पदार्थ बताये गये है उनका उपभोग एवं कल्याण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अन्न, पशु, दुग्ध, आरोग्य आदि सभी समृद्धि के सूचक माने गये हैं। ऋग्वेद में इस बात का स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि द्यूतक्रीडा आदि अनैतिक विधियों के द्वारा धन प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए और ऐसे लोगों को खेत में जाकर कृषि करने, पशुओं का पालन करने और अपनी गृहस्थी चलाने के लिये आह्वान किया गया है[६०]।

धनप्राप्ति की उचित और अनुचित विधियों की पहचान के लिये व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से प्रश्न करने तथा उसके उत्तर को बुद्धि और ज्ञान की सहायता से समझने की चेष्टा करनी चाहिए[६१]। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है कि दूसरों के सहारे जीवित नहीं रहना चाहिए। पूजाकार वरुण से प्रार्थना करता है 'हे राजन् (वरुण) मुझे दूसरों के द्वारा अर्जित धन के आश्रय पर न रहने दे'[६२] कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त व्यवसायों की सूची में उद्योगों को भी सम्मिलित किया

जा सकता है। परन्तु उद्योगों में उत्पादन का आकार लघु एवं संगठन पारिवारिक तथा कुटीर आधार पर था। विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं शिल्पों के विकास के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है कि इनके द्वारा निर्धनता का निराकरण और सम्पन्नता की प्राप्ति की जा सकती है[६३]। विभिन्न शिल्पों में कारीगरों की नियुक्ति या वितरण उनकी रुचि एवं स्वभाव को ध्यान में रखकर करने का उपदेश देते हुये वैदिक ऋषियों ने श्रम साधन के उचित उपयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया[६४]। इस प्रकार के विभिन्न उद्योगों में ऊनी वस्त्र उद्योग, अस्त्रशस्त्र निर्माण, धातु उद्योग, काष्ठ उद्योग, वास्तु कला एवं भवन निर्माण मुख्य कहे जा सकते हैं। कढ़ाई और बुनाई का कार्य मुख्यतया घरों में ही स्त्रियों द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में इस प्रकार बुने गये कपड़े के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है[६५]। ऋग्वेद में गान्धारी बकरी के ऊन के सुन्दर वस्त्र[६६] एवं उसको बनाने की उत्कृष्ट विधि[६७] का उद्धरण भी प्राप्त होता है।

उत्पादन के स्रोत

ऋग्वेदकालीन भारत में पूँजी का महत्त्व उत्पादन के साधन के रूप में अपेक्षाकृत नगण्य रहा है। यह इस बात से स्पष्ट है कि भूमि की महत्ता और प्रशंसा के बारे में तथा जनसंख्या एवं मानव-श्रम के महत्त्व के सम्बन्ध में हमें विस्तृत विचार मिलते हैं पर पूँजी के सम्बन्ध में ऐसे विवरण नहीं मिलते। वेद में भूमि का महत्त्व पृथिवी को माँ के रूप में की गई उपासना से अधिक स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है, पर उपासना से सम्बन्धित सूक्तों में यह भी स्पष्ट होता है कि भूमि को ऐश्वर्यप्रदायिनी शक्ति एवं उत्पादन के साधन के रूप में भी देखा जाता था। अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त के अन्तर्गत कहा गया है कि — 'जिस मातृभूमि में उद्यमशील तथा शिल्प में निपुण निजी परिश्रम से कृषि करने वाले हुये हैं, जिस भूमि में चार दिशायें और चार विदिशाएँ, यव, चावल आदि धान्य उपजाते हैं जो अनेक प्रकार से प्राण धारण करने वालों और चलने फिरने वालों का धारण पोषण करती है, वह हमारी मातृभूमि हम सबको गौएँ और अन्नादि प्रदानकर धारण पोषण करें[६८]।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि मातृस्वरूपा पृथिवी की उपासना उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर की गयी है।

वेद में श्रम को समुचित स्थान प्राप्त है। मनुष्य उद्योग करे, परिश्रम करे, अकर्मण्य न रहे, तभी समृद्ध हो सकता है। 'जागते रहना उद्यम, एवं पुरुषार्थ समृद्धि के लक्षण हैं और आलस्य में सोये रहना दरिद्रता[६९] का लक्षण है। 'हे देव, हमें व्यर्थ की वार्ता, आलस्य एवं निन्द्रा से बचाओ'[७०]। 'ईश्वर उनकी सहायता करता है जो

आलस्य का त्याग करते हैं'[७१] । 'ईश्वर उसका मित्र है जो श्रम करता है'[७२] अथवा 'श्रम से ही विजय प्राप्त होती है'[७३] । आदि कथन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि श्रम की महत्ता कर्मो की सफलता के लिए आवश्यक है साथ ही आलस्य एवं प्रमाद पाप तुल्य माने गये हैं ।

> कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
> गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित् ॥

अथर्व० ७.५०.८

अर्थात् मेरे दक्षिण हाथ में कर्म की सामर्थ्य भरी हुई है और वाम हस्त में विजय है । ऐसी अवस्था में मैं घोड़े, धन, सुवर्ण आदि को जीतने वाला बनूँ। अतः कहा जा सकता है कि वेद कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है न कि भाग्यवादी प्रवृत्ति को मानता है । पहले कर्म अर्थात् दाहिने हाथ से कर्म करें तो भाग्य अथवा विजय बायें हाथ में रहेगी । संभवतः गीता के कर्म-योग की आधारभूमि अथर्ववेद में ही प्रतिष्ठित है ।

सेवकों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के भी सन्दर्भ मिलते हैं जहाँ कहा गया है कि स्वामी और सेवक के भोजन पदार्थों में कोई भेद नहीं था ।

उत्पादन संगठन

ऋग्वेद में मिलजुलकर कार्य करने की शिक्षा दी गई है । अथर्ववेद में संगठनात्मक समितियों में मेल जोल के आधार पर कार्य करने को सफलता का सूत्र बताया गया है[७४] । इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा गया है कि एक साथ काम करने से, एक साथ खाने से तेज और समृद्धि की प्राप्ति हो सकती है[७५]।

जिस प्रकार सूर्य, वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक उपादान संगठित होकर अनन्तकाल से अपने-अपने कार्य में संलग्न है ठीक उसी तरह मानव को भी संगठित होकर कार्यरत रहना चाहिए । इसी के साथ इस बात पर भी बल दिया गया है कि प्रत्येक कार्य को संगठित होकर एकमत के आधार पर किया जाय। अथर्ववेद में सहयोग और सहकार के सिद्धान्त का उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में पालन करने का स्पष्ट उपदेश है । 'एक साथ धन लगाकर एक साथ श्रमकर जो कुछ भी लाभ हो उसको सभी में समान भाव से वितरण हो । अन्न व जल का समान भागों में वितरण हो । सभी लोग एक ही बन्धन (नियमों) में बंधकर कार्य करें'[७६] ।

अत: कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में साथ-साथ कार्य करने का संगठन ही उत्पादन संगठन का सर्वोत्तम रूप रहा है। इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण है कि विभिन्न वर्ण के लोगों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे अपने पूर्वजों के व्यवसाय को ही अपनायें। प्रत्येक युवा व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद[७७] में उल्लेख है कि मैं कवि हूँ तथा मेरी कन्या पिसनहारी है। धन की कामना करने वाला तथा नाना कर्मों वाले हम, गाँयों की तरह एक गोष्ठ में रहते हैं। इससे उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।

विनिमय

ऋग्वेद में विनिमय के लिये किसी विशेष द्रव्य का सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता जिससे यह कहा जा सके कि विनिमय में मुद्रा का प्रयोग होता था। प्राय: व्यापार वस्तु विनिमय के आधार पर होता था। मूल्य के मापदण्ड के लिये जिस वस्तु का उपयोग होता था वह पशु थे और मुख्य रूप से गाय ही विनिमय का प्रधान साधन थी। इसी प्रकार मूल्य निर्धारण के सन्दर्भ में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। विनियम की कुछ मान्यताएँ थी जिसका पालन करना प्रत्येक विनिमयकर्त्ता के लिए आवश्यक था। अथर्ववेद में व्यापारी के लिए इन्द्र की प्रार्थना का उल्लेख है, जिसमें व्यापारी कहता है- हे इन्द्र तुम हमारे मार्ग दर्शक वणिक् बनो। मूल्य न देने वाले से हमें बचाओ तथा प्रतिस्पर्धी से हमें बचाओ। मुझे धन प्रदान करो। पृथिवी एवं स्वर्ग के बीच के देवमार्ग दुग्ध और घृत से युक्त होकर मेरा स्वागत करें जिससे मैं अपने भविष्य के माध्यम द्वारा अधिकतम धन प्राप्त कर सकूँ। हे देवों, मेरी पूँजी में वृद्धि होती चली जाये, कभी कमी न आये। हे अग्नि! उन लोगों को नष्ट करो जो मेरे लाभ को नष्ट करना चाहें[७८]।

अत: कहा जा सकता है कि वाणिज्य में लाभ कमाने के लिए ही ये प्रार्थनाएँ की जाती थीं और वैदिक ऋषियों को ज्ञात था कि स्पर्धा की स्थिति में लाभ कम हो जायेगा और व्यापार में पूँजी की हानि बहुत बड़ी हानि है परन्तु लाभ कमाने के लिए भी नियम हैं और नियमों का उल्लंघन करते हुये लाभ कमाना अनुचित है। मूल्य प्राप्त करने के बाद व्यापारी को आवश्यक रूप से वस्तु की पूर्ण मात्रा एवं उचित गुण में प्रदान करना आवश्यक था[७९]। वणिक् प्रतिज्ञा करता है कि 'इस वस्तु को मैं तुम्हें मूल्य लेकर दे रहा हूँ। इसीलिए इसको पुन: पूर्ण करके दे रहा हूँ'। इससे व्यवसाय जगत् की सत्यता, अलोलुपता का पता चलता है।

वितरण के क्षेत्र में वैदिक साहित्य में अर्थशास्त्रीय मजदूरी, लगान, ब्याज अथवा लाभ के सिद्धान्तों की खोज करना शायद ही उपयोगी सिद्ध होगा। लेकिन धन के

समान वितरण की वाञ्छनीयता के सम्बन्ध में वेदों में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि जिन लोगों ने अपने धन को निर्धन जीवों में वितरण किया है वे अपने पुण्य और यश के प्रभाव से सदैव जीवित हैं। आकाश में प्रकाशित हैं[८०]।

अपने पास धन होते हुए भी निर्धनों की याचना पर ध्यान न देना बड़ा ही अमानुषिक समझा गया है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जिनमें जरूरतमन्द लोगों को अन्न और धन प्रदान करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है[८१]। इस प्रकार वेदों में धन के समान वितरण और आर्थिक समानता को बार-बार वाञ्छनीय बताया गया है[८२]। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक आर्य अर्थव्यवस्था के सञ्चालन तथा आर्थिक व्यवहार के नियमों से अनभिज्ञ नहीं थे। ऋषियों द्वारा मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में जो उपदेश दिये गये हैं उन्हीं में हमें इस व्यवस्था का भी दर्शन होता है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यहाँ यह कहा जा सकता है कि आर्यों का धनोपार्जन करना एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य था लेकिन उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य अथवा लक्ष्य कहना तर्क संगत नहीं होगा। निर्धन होना ठीक नहीं है लेकिन धनोपार्जन करके विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करना भी अनुकरणीय व्यवहार नहीं है। भूमि व पशु न केवल उत्पादन के साधन हैं बल्कि धन के प्रमुख भी हैं। अन्न के महत्त्व का भी पर्याप्त उल्लेख किया गया है तथा ऋग्वेद में आर्थिक व्यवहार को सामाजिक व्यवहार का अंग माना गया है।

विभिन्न शिल्पियों का विकास

कृषि, पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे किन्तु इनके विस्तार के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धों का विकास भी प्रारम्भ हो गया था। उस युग में चार प्रधान श्रेणियों के अतिरिक्त अनेक व्यवसायपरक जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थी। इनमें चर्मकार, कापीर-लोहार, त्वष्टा, बढ़ई, नापित, भिषक्, आदि का सन्दर्भ ऋग्वेद में आया है[८३]। विभिन्न कलाओं का विकास पेशेवर लोगों के हाथों हुआ। इन पेशों को पाणिनि ने जनपदीय वृत्ति कहा है। ये भाँति-भाँति के शिल्प थे। कुछ पेशेवालों के नाम ये हैं[८४] — कीनाश या कृषिवल, (किसान), कर्मार (लोहार), कैवर्त्त, (मछुआ), गोपा (ग्वाला), नावाज, (नाविक) नापित, (नाई) ज्याकार, (धनुषाकार या प्रत्यञ्चाकार) तक्षा, त्वष्टा (बढ़ई), ध्मातृ, (धातु बनाने वाला) पक्तृ, (पाचक) पणिक, (ताल देने वाला) विदलकारी, (बेत का काम करने वाला) मणिकार, (मणि) रत्न का कामं करने वाला, मलग, (धोबी) रज्जुसर्प, (रस्सी का काम करने

वाला) रजयितृ, (रंगरेज), वंशनर्तिन (बाँस पर कला दिखाने वाला) बपतृ बुनकर, सूर्पकार, हिरण्यकार, वीणा गायिन, (वीणावादक)। आर्यों ने अपने आर्थिक जीवन के उन्नयन में संलग्न होकर नवीन आधारशिला रखी तथा कृषिकर्म को प्रधान रूप से ग्रहण कर पशुपालन को गौंण रूप प्रदान किया तथा साथ-साथ उद्योगों के प्रति सचेष्ट रहे। उनका उद्योगों के आधार पर नामकरण प्रारम्भ हो गया था। इस युग में आर्यों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उद्योगों को अपनाया तथा उनके पृथक्-पृथक् नामकरण किये जो उत्तरवैदिक काल में आकर अलग-अलग वर्ग के रूप में विकसित हुए। उस समय कला और उद्योगों के लिये शिल्प शब्द का प्रयोग होता था[८५]। यह विश्व जिसका कर्म है उसे विश्वकर्मा कहा गया और उसके आधार पर प्रजापति के विश्वकर्मा रूप की कल्पना की गई। देवों के वर्धकी या बढ़ई को त्वष्टा कहा गया है जो विश्वकर्मा की भाँति एक देवता की ही संज्ञा है। त्वष्टा देव शिल्पी, चतुरयन्त्री और आदर्श कलाकार हैं। इनका बनाया हुआ इन्द्र का वज्र, सुकृत, हिरण्यमय, सफल प्रहार करने वाला कहा गया है[८६]। इनके साथ धाता का भी उल्लेख हुआ है तथा त्वष्टा उनके सहभोगी हैं[८७]। निर्माण, स्थिति और संवृद्धि इन तीनों क्रियाओं के कर्त्ता तीन देवों का नाम एक साथ मिलता है — विधाता, धाता और समृध्।

धातुएँ — ऋग्वेदकालीन शिल्प की चर्चा करने के पहले उस समय की प्राप्त धातुओं का परिचय आवश्यक है। धातुओं में मुख्य रूप से अयस्, सोना एवं चाँदी का उल्लेख मिलता है। अयस् उस काल की प्रमुख धातु है। इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अयस् का अर्थ सोना और शीसा को छोड़कर किसी भी अन्य धातु से हो सकता है[८८]। यह निश्चित है कि ऋग्वेद काल में अयस् धातु का प्रयोग सबसे अधिक था। इस धातु से कवच, शिरस्त्राण, बाण तथा अन्यान्य हथियार और उपकरण बनाये जाते थे[८९]। आर्य धातु गलाने और उसे पीटकर विभिन्न रूप देने में समर्थ थे[९०]। ऋग्वेद में सोने का सन्दर्भ अनेक बार आया है। इसके लिये 'हिरण्यपिण्ड' शब्द का उल्लेख हुआ है। निष्क इसी धातु का बनता था[९१]। विभिन्न प्रकार के आभूषण सुवर्ण निर्मित होते थे[९२]। दान कर्म के लिये भी सुवर्ण का प्रयोग होता था[९३]। चाँदी के प्रयोग को ऋग्वैदिक आर्य जानते थे अथवा नहीं इसमें सन्देह है लेकिन अथर्ववेद में निश्चित रूप से रजत के प्रयोग का सन्दर्भ मिलता है[९४]। इसलिये बहुत सम्भव है कि ऋग्वैदिक समाज भी इसके प्रयोग से परिचित रहा हो।

तक्षन् तथा रथकार

तक्षन् लकड़ी का काम करता था[९५]। आजकल इसे ही बढ़ई कहते हैं। साधारण तक्षन्

के अतिरिक्त ऋग्वेद रथ बनाने वाले तक्षन् का भी उल्लेख करता है संभवत: विशेषज्ञ बढ़ई रथों का निर्माण करते थे। रथ बनाने वाले वर्धकी को रथकार कहा जाता था[९६]। भारी बोझ ढोने की गाड़ी को अनस या शकटी कहते थे। इसे खीचने वाले तगड़े बैल अनड्वान कहे जाते थे[९७]। तक्षन् खेत जोतने के लिए हल, तथा घर के लिए लकड़ी की विभिन्न वस्तुएँ बनाता था। उस समय नाव और पोत का निर्माण होता था जो निश्चय ही तक्षन् की शिल्प कला से बनते रहे होंगे[९८]। ऋग्वेद (१०१.४३.५) में सौ परिवार वाले पोतों का उल्लेख है। तक्षा 'परशु' और 'वाशी' (बसूले) से लकड़ी को गढ़ता था तथा उस पर सुन्दर नक्काशी करता था[९९]। इसके साथ ही वह तल्प[१००] एवं प्रोष्ठ का निर्माण करता था जो लकड़ी का बनता था[१०१]।

वाय एवं वासोवाय-ऋग्वेद में 'वासोवाय' नामक वर्ग वस्त्र बुनने वाला होता था। जिस पर वस्त्र बुना जाता था उस करघी को 'तसर' कहते थे[१०२]। 'ताना' को 'ओत' और बाना को 'तन्तु' कहते थे[१०३]। बुनकर को वय कहा जाता था[१०४]। युवा स्त्रियाँ भी बुनने का कार्य करती थी[१०५]। एक जगह उल्लेख है कि एक स्त्री अपने अधूरे बुनने के काम को पूरा करने के निमित्त पुन: बुनने के लिए गई। माँ के द्वारा अपनी सन्तान के लिए वस्त्र बुनने का उल्लेख है। ऋग्वैदिक काल में अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्र बुने जाते थे[१०६]। संभवत: बुनाई के लिये शिक्षा केन्द्र भी थे जहाँ इससे सम्बन्धित शिक्षा दी ज़ाती थी[१०७]। उस समय ऊन के वस्त्रों का अधिक प्रचलन था[१०८]।

कर्मार —

यह धातु का कार्य करता था। कार्षणायस, (लोहा या ताँबा), हिरण्य रजत (चाँदी), आदि धातुएँ उस समय के लोगों को ज्ञात थी। असुरों को आयोजालाह (लोहा) के विभिन्न कार्यों में दक्ष कहा गया है[१०९]। कर्मार कृषि के लिये 'अभृ', 'दात्र' या सृष्व, 'फाल' (हल) आदि का निर्माण करता था[११०]। कर्मार अग्नि को चिड़ियों के पंखों की धौकनी देता था तथा सूखी लकड़ियों को जलाकर धातु को गलाता था। बर्तन बनाने के लिये धातु को अधिक पीटना पड़ता है। यही वर्ग आयुधों का भी निर्माण करता था[१११]। अत: कहा जा सकता है कि यह वर्ग मुख्य रूप से अभृ, दात्र, सृष्ण, असि, परशु, बाण, भाला, खड्ग आदि के निर्माण में दक्ष था।

स्वर्णकार —

इनके लिये हिरण्यकार शब्द का भी प्रयोग होता था। कोष में हिरण्य से सम्बन्धित शब्दों में हिरण्य कर्ण (कान में सोना पहने), हिरण्य कशिपु (सुवर्ण सूत्र निर्मित उपधान), हिरण्यकेश (सुनहरे बालों वाला), हिरण्यकक्ष्य, हिरण्यचक्र,

हिरण्यजित, हिरण्यदन्त, हिरण्यद्रापि, हिरण्यनिर्णिज, हिरण्यनेमि, आदि शब्द प्राप्त होते हैं[११२]। हिरण्यकार का मुख्य कार्य सोने के आभूषण बनाना था। ऋग्वेद में सिन्धु के लिये 'हिरण्यवर्तिनी'[११३] शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि सोना नदी से अथवा इसके आस-पास की भूमि से प्राप्त किया जाता था। हिरण्यपाव शब्द से सोने को साफ करने वाले का बोध होता है[११४]। शतपथ ब्राह्मण में भी इस विधि को जानने वाले का सन्दर्भ प्राप्त होता है[११५]। निष्क (हार), कुटीर (मांगटीका), कुम्ब (सिर का आभूषण), कर्ण शोभन, आदि अनेक प्रकार के आभूषण उस समय इसी वर्ग के द्वारा बनाये जाते थे[११६]। ये आभूषण शुभ अवसरों पर धारण किये जाते थे और पिता द्वारा अपनी कन्याओं को दिये जाते थे। साथ ही परिवार के छोटे-बड़े सभी लोगों के लिये आभूषण बनाये जाते थे।

कुलाल —

आधुनिक कुम्हार ही कुलाल कहे जाते थे। इनका विकास ऋग्वेद काल के बाद प्रारम्भ हुआ लेकिन ऋग्वैदिक काल में इनसे सम्बन्धित पात्र आदि के होने का सङ्केत प्राप्त होता है। ये मिट्टी के विभिन्न प्रकार के पात्र बनाते थे जो जीवनोपयोगी होते थे[११७]।

ज्याकृत —

इनका कार्य चमड़े से सम्बन्धित वस्तुओं का निर्माण करना था जिनमें प्रत्यञ्चा, रस्सियाँ, चाबुक, आदि प्रमुख थे। चमड़े को भिगोकर उपयोग करते थे। उस समय वाद्य यन्त्रों का निर्माण भी इन्हीं की सहायता से किया जाता था[११८]।

नापित —

ऋग्वेद में नाई का उल्लेख हुआ है। एक जगह कहा गया है हे अग्ने ! तू जब वृक्षों के ऊपर, नीचे से दग्ध करता हुआ जाता है तब तू विजय लोलुप सेना के समान पृथक् दस्ता बनाकर आता है। जब वायु तेरे ज्वाला के अनुकूल बहती है तब दाड़ी मूँछ के बालों को काटने वाले नाई के समान तू बहुत से भूमि भाग को अन्न रहित करके साफ कर देता है[११९]। इसी तरह ऋ० ८.४.१६ में कहा गया है कि संकट से मुक्त करने वाले इन्द्र नाई के समान हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करें। अतः उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि बाल इत्यादि काटने के लिये तत्कालीन समाज में नापित की व्यवस्था थी।

वास्तुविद् —

ऋग्वेद काल में वास्तुकला विकसित हो चुकी थी। समाज में स्थापत्य एवं वास्तुविदों का सम्मानजनक स्थान प्रतीत होता है। इसके विषय में अविनाश चन्द्र दास का मत है कि[१२०] — ऋग्वेद कालीन कला का अपना स्वतन्त्र अस्तितव था यह किसी भी विदेशीकला से प्रभावित नहीं जान पड़ती। जिस समय मन्त्रों का संकलन हो रहा था उस समय एशिया अथवा यूरोप में ऐसे लोग नहीं थे जो वैदिक लोगों की तुलना में समान रूप से विकसित रहे हों। धनिक वर्ग पत्थर बने महलों में रहते थे[१२१]। ये महल पत्थर एवं लकड़ी के बनाये जाते थे क्योंकि कभी-कभी शत्रु के द्वारा अथवा भौतिक विपदा से इनके नष्ट होने का सङ्केत मिलता है[१२२]। महल में खम्भे होते थे जो छत को सहारा देते थे[१२३]। इनमें दरवाजे तथा हवा के लिये वातायन भी होते थे[१२४]। ये महल संभवतः तीन मञ्जिले तक होते थे क्योंकि ऋ० ८.३०.१२ में तीन सन्धियों वाले महल का वर्णन प्राप्त होता है। कुछ लोगों ने इसका सम्बन्ध तीन धातु से भी लिया है। इसके साथ ही कुओं इत्यादि की उपस्थिति का ज्ञान ऋग्वेद में प्राप्त होता है। गृह शब्द ऋग्वेद में एकवचन एवं बहुवचन दोनों में प्रयुक्त हुआ है[१२५]। बड़े-बड़े वृक्षों का तक्षण करके भारी-भारी महल बनाने की प्रथा थी जिन्हें सहस्र स्थूण प्रासाद कहा गया है[१२६]।

गृहखम्भों के ऊपर ढोलाकार अथवा छत बाँधी जाती थी। त्रयः स्कम्भासः स्कभितासः[१२७] स्तम्भ की नींव को धरूण कहा जाता था[१२८]। ऊँचे खम्भे सौभाग्य के प्रतीक थे[१२९]।

अतः वैदिक काल के प्रारम्भ में गृह निर्माण कला के माध्यम से सुन्दर गृहों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इससे उस काल के वास्तुविदों का पता चलता है।

वास्तु विन्यास —

ऋग्वेद में गृह के लिये दम, गृह, पस्त्या, सदन, पुरोण, हर्म्य, अस्त, शरण आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। घर विभिन्न आकार के बनाये जाते थे। बड़े घरों को बृहत् मान[१३०] और छोटे घरों को शाला कहते थे। शाला शब्द से छोटे घर का तात्पर्य इसलिये है कि उपनिषदों में महाशाला शब्द का प्रयोग मिलता है। सहस्त्र स्थूण वाले गृहों का सन्दर्भ ऋग्वेद में प्राप्त होता है[१३१]। बड़े एवं छोटे घरों का तात्पर्य उसी तरह से है जिस तरह सभा और समिति का। सभा छोटी होती थी जबकि समिति में सभी लोगों का प्रवेश सम्भव था। संभवतः हजारों धूनियों वाले सभामण्डप का निर्माण समिति के लिये किया जाता था।

अतः उस युग में गृह निर्माण कला से सम्बन्धित सभी तत्त्वों का समावेश था। उस काल के विशिष्ट शिल्पी, गृह निर्माण से पूर्व उसका विन्यास या मापन करके, सुन्दर भवनों का निर्माण करते थे।

मूर्तिकार —

ऋग्वेद में इन्द्र की मूर्ति के विक्रय का उल्लेख है[१३२]। अतः अवश्य ही एक वर्ग पत्थरों को तराशने का एवं उससे मूर्ति बनाने का कार्य करता रहा होगा। इसके साथ ही जो हथियार पत्थर से बनाये जाते थे उनके विशेषज्ञों का भी कोई समुदाय रहा होगा जैसे अशनि, अद्रि आदि आयुधों का निर्माता कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता।

इसी प्रकार ऋग्वेद में उलूखल एवं सोम पेषण ग्रावा आदि के उल्लेख से भी यह स्पष्ट होता है कि पत्थरों को काटकर विभिन्न प्रकार के यज्ञीय एवं घरेलू पात्र आदि बनाने के विशेषज्ञों का वर्ग रहा होगा। काष्ठ की मूर्तियों का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है[१३३]।

भिषक् —

इस वर्ग को चिकित्सक अथवा वैद्य कहा गया है। ऋग्वेद में इनसे सम्बन्धित सन्दर्भों का कई बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में आसुरी, मानुषी, तथा दैवी चिकित्सा के रूप में तीन प्रकार की पद्धतियों का वर्णन मिलता है। इन सबका विस्तृत विवेचन हम विश्पला,[१३४] वध्रिमती[१३५] तथा दध्यङ्क अथर्वण[१३६] सम्बन्धी आख्यानों के माध्यम से तीसरे अध्याय मे कर चुके हैं। हमें इन आख्यानों के माध्यम से ऋग्वेदकालीन चिकित्सा विज्ञान तथा औषधि विज्ञान की चरम सीमा का आभास होता है। इससे मालूम होता है कि उस काल में एक इस तरह का भी वर्ग था जो समाज के अच्छे स्वास्थ्य के लिये उत्तरदायी था।

उपलब्ध प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में शिल्प की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। आवश्यकतानुसार विभिन्न वर्ग बन रहे थे। अपनी रूचि के अनुसार शिल्प अपनाने की व्यवस्था थी। यह किसी के ऊपर थोपा नहीं जाता था और न हि पैतृक व्यवस्था के रूप में ग्रहण किया जाता था। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वह समाज अपनी रूचि के अनुसार ही शिल्प एवं उद्योग के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा था। उस काल में यदि वास्तुकला के कुशल निर्माता थे तो दूसरी और रथकारों एवं तक्षन् का भी एक वर्ग था। इसी तरह वासोवाय, चर्मन, स्वर्णकार, कमरि, कुलाल तथा प्रत्यञ्चाकार इत्यादि का वर्ग भी अपना स्थान बना चुका था। अतः कहा जा सकता है कि शिल्प एवं उद्योगों के क्षेत्र में भी यह समाज प्रगतिशील था।

सन्दर्भ

१. ऋ० १०.३४.१३
२. वैदिक सम्पदा, पृष्ठ १५२
३. अथर्ववेद १२.१
४. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद १९५७, पृ० ३४
५. स हि शर्धो न मारूतं तुविष्वणिरप्नंस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टानिः ।
आर्दद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतरर्हणा । अधं स्मास्य हर्षतो
हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥ ऋ० १.१२७.६
६. शतपथ ब्रा० १.६.१.३
७. श० ब्रा० १३.८.२.६
८. ऋ० १०.१०१.३ एवं ४
९. ऋ० ३.५७
१०. यजु० १८.१२
११. पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी ऋग्वेद, इलाहाबाद १९५४, पृष्ठ ६०
१२. A.C. Das, *Ṛgvedic Culture*, Calcutta, 1925, pp.260
१३. ऋ० ५.५३.१३, ६.१३.४, १०.९४.१३
१४. ऋ० १०.६८.१
१५. ऋ० १.१०५.१७
१६. ऋ० १०.९३.१३, १०१.७
१७. ऋ० ४.५७.४
१८. अथ० ३.१७.३
१९. ऋ० ४.५७.८, १०.११७.७
२०. अथ० ६.१९.१
२१. ऋ० ८.२२.६
२२. ऋ० १०.०१.२ एवं ३
२३. ऋ० १०.१०१.६
२४. ऋ० १०.६८.१
२५. ऋ० ८.७८.१०
२६. ऋ० १०.१०१.३
२७. ऋ० १०.४८.७
२८. मैक्डॉनल और कीथ (हिन्दी अनुवाद – रामकुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, १९६७, पृष्ठ ३४४ ।

२९. ऋ० १०.६१.२
३०. ऋ० १०.९४.१३
३१. ऋ० २.१४.११
३२. ऋ० १०.६८.२
३३. ऋ० २.१४.११
३४. ऋ० १.१२७.६
३५. ऋ० १.११०.५
३६. ऋ० ८.९१.५
३७. ऋ० ८.४६.३०
३८. ऋ० १०.१०२.५
३९. ऋ० ४.२.८
४०. विश्वेश्वरनाथ रेऊ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, दिल्ली, १९७६, पृष्ठ १९२
४१. मैक्डॉनल और कीथ (हिन्दी अनुवाद राम कुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, भाग - १, वाराणसी, १९६७, पृष्ठ ११८ एवं ११९
४२. ऋ० ८.४६.२८
४३. ऋ० ७.५५.३ एवं ५
४४. ऋ० ८.६.४८
४५. ऋ० १.१३८.२
४६. ऋ० ८.४६.२२
४७. ऋ० ४.४.१
४८. ऋ० १०.४४.९
४९. ऋ० ८.१२.८ एवं ८.३५.७
५०. अथ० ६.१४१.१ एवं १२.४.६
५१. अथ० ६.१४१.२
५२. वेदश्रमी वीरसेन, वैदिक सम्पदा, दिल्ली, १९६७, पृष्ठ १४५
५३. डॉ०सिद्धनाथ शुक्ल, ऋग्वेद चयनिका, वाराणसी, १९७४, पृष्ठ ३०
५४. वही
५५. वही
५६. यजु० २६.१५
५७. ऋ० १.९१.१३ एवं १.३३.१४
५८. एम.एल. भार्गव, दि ज्योग्राफी आफ ऋग्वैदिक इण्डिया, लखनऊ, पृष्ठ १२९;३०
५९. ऋ० १०.१५५.१
६०. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः १०.३४.१३ ।

६१. ऋ० १०.३१.२
६२. ऋ० २.२८.९
६३. ऋ० १०.१५५.३
६४. ऋ० ९.११२.१
६५. ऋ० १०.२६.६
६६. ऋ० १.१२६.७
६७. ऋ० ९.८६.३२
६८. अथर्व० १२.१.४
६९. यजु० ३०.१७
७०. ऋ० ८.४८.१४
७१. ऋ० ८.२.१८
७२. ऋ० ८.३३.१११
७३. अथर्व० ७.५२.८
७४. अथर्व० ५.१९.५
७५. ऋ० १०.१९१.१२
७६. अथर्व० ५.१९.६
७७. ऋ० ३.८.१, २, ५
७८. अथर्ववेद ३.८.१; २;५
७९. यजु० ३.४९
८०. यजु० १७.२८
८१. ऋ० १०.४८.११७
८२. यजु० २९.४६ ; ऋ० १०.१९३.३, ४; अथर्व० ३.३०.१
८३. ऋ० ८.५.३८, ९.११२.२, १०.७२.२, १.६१.४, ९.११.२, १०.१४२.४, ९.११२.३, १०.२६.६
८४. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, १९६६, पृष्ठ ५६
८५. वही पृ. ५४
८६. ऋ० १.८५.९
८७. अथ० ३.८.२
८८. श० ब्रा० ५.१.२.४
८९. ऋ० १.२५.३, ६.२७.६, ७.७.२५ आदि
९०. ऋ० ६.३४, ९.९.१२
९१. ऋ० ५.१९.३
९२. ऋ० १.१२२.१४, १०.८५.८ आदि
९३. अथ० ५.२.२८

९४. अथ० ५.२.२८
९५. ऋ० ९.११२.१
९६. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, १९६६, पृष्ठ ५६
९७. ऋ० १०.१४६.३
९८. ऋ० ७.५५.८
९९. ऋ० १.१०५.१८, १०.८६.५
१००. वही ७.५५.८ प्रोष्ठेशया वंह्येशया नारीर्यास्तंल्पशीवंरी:
स्त्रियो या: पुण्यंगन्धास्ता:सर्वा स्वापयामसि ।
१०१. वही ७.५५.८
१०२. ऋ० १०.१३०.२ सामानि चक्रस्तसराण्योतवे
१०३. ऋ० ६.९.२
१०४. ऋ० १०.२६.६
१०५. ऋ० २.३.६
१०६. ऋ० ९.४६.३२
१०७. ऋ० १०.१३०.१
१०८. ऋ० ४.२२.२, ५.५.४
१०९. अथर्ववेद १९.६६ आयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयै: पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।
११०. ऋ० ८.७८.१० हस्तं दात्रं चना ददे ।४.५७.८ शुनं न: फाला वि कृषन्तु भूमिम् । अथर्व० ७.५.६ वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृष्ठ ३० ।
१११. ऋ० १.१६२.२०, २७-३, ५.५७.२, ६.४७.१०, ४६.११, १०.७९.६ ।
११२. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Delhi, 1981, p. 745
११३. ऋ० ८.२६.१८, १०.७५.८, ६.६१.७
११४. ऋ० १०.८६.३३
११५. श०ब्रा० २.१.१.५
११६. ऋ० २.३३.१०, ५.१९.३, १०.८५.८, ८.७८.३, १.१२.१४
११७. मैक्डॉनल और कीथ , वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी अनुवाद - रामकुमार राय), वाराणसी, १९६२, पृष्ठ १७१, १७६; ऋ० १.११६.७ , १.११७.६, ११७.१२
११८. ऋ० ८.५.३८, ६.७५.११, १०.२७.२२, १.८५.५, ६.४७.२९
११९. ऋ० १०.१४२.४ पर सातवलेकर का अनुवाद
१२०. A.C. Das, *Rgvedic Culture*, Calcutta, 1925, p. 184.
१२१. ४.३०.२०
१२२. ऋ० ७.५.३
१२३. ऋ० ४.५.१

१२४. ऋ० १०.९९.३

१२५. ऋ० ३.५३.६, ४.४९.६, ८.१०.१, २.४२.३, ५.७६.४ आदि ।

१२६. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी , १९६६, पृष्ठ ५३

१२७. ऋ० १.३४.२

१२८. वही १०.४.४

१२९. वही ३.८.२

१३०. वही ७.८८.५

१३१. वही १.४१.५ एवं ५.६२.६

१३२. आचार्य बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९८५, पृष्ठ ५११

१३३. ऋ० ४.२३.२

१३४. ऋ० १.११६, ११७, ११८ एवं १०.३९

१३५. ऋ० १.११६.१३, ११७.२४, ६.६२.६, ३९.६, १०.६५.१२

१३६. ऋ० १.११६.१२, ११७.२२, ११९.९

* * *

षष्ठ अध्याय

ऋग्वैदिक समाज में राज्य एवं राजा की परिकल्पना

भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम राजनीतिक विचारों एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं का परिचय प्राप्त करने के निमित्त ऋग्वेद एक मा. आश्रय है। उपलब्ध सामग्री अस्पष्ट जरूर है लेकिन इस सांकेतिक सामग्री के आधार पर ऋग्वैदिक काल के आर्यों के राजनीतिक जीवन का विधिवत् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ऋग्वेद में प्रसङ्गवश कुछ ऐसे संवाद सूक्त भी उपलब्ध है जिनका विवेकपूर्ण उपयोग करने से उस समय के कतिपय राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। इनमें सरमा एवं पणि का संवाद प्रमुख हैं[१]।

आर्यों के अतिरिक्त आनार्यों का भी उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। इन्हें पणि, कीकट आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। इनमें पणि व्यापार में कुशल थे। पणियों को विलासी बताया गया है[२]। हमें इसका भी संङ्केत मिलता है कि पणि जाति के लोग पड़ोसी आर्य क्षेत्र में प्रवेश कर आर्यों की सम्पत्ति की चोरी करते थे[३]। आर्येतर जातियाँ अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करती थी। उनकी दृष्टि में आर्य सभ्यता निन्दनीय एवं दोषपूर्ण थी। इसलिये आर्यों एवं अनार्यों में संघर्ष स्वाभाविक था। अनेक[४] ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ पर इनके विनाश की कामना की गई है। अथर्ववेद में भी पणियों के विनाश हेतु प्रार्थना करने का उल्लेख है। आर्य एवं अनार्य अनवरत संघर्षरत् थे। इन संघर्षों में सम्भव है कि विजेता पराजित लोगों को दास भी बना लिया जाता रहा हों[५]। इस तरह की दासता से मुक्त रहने के लिये यत्र तत्र प्रार्थना की गई है[६]। इस दासता पर विजय प्राप्त करने के लिये ऋग्वैदिक आर्य एवं उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का जीवित रहना निर्भर था।

प्राय: सभी राजनीति शास्त्रविदों ने राज्य के सात अंग बतलायें है[७]। आचार्य कौटिल्य ने भी राज्य के इन सात अंगों को राज्य की सात प्रकृतियों की संज्ञा दी है जिन्हें उन्होंने स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र के नाम से सम्बोधित किया है[८]। वैदिक युग के उपरान्त प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के जो प्रमुख विचारक हुए हैं लगभग सभी ने राज्य के सप्ताङ्ग स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होंने इन अंगों की श्रेष्ठता एवं विशुद्धता पर ही राज्य की प्रतिष्ठा स्वीकार की है।

राज्य के सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप की कल्पना सर्वप्रथम कब और किसने की यह अभी भी समस्या है। लेकिन इतना निश्चित है कि यह ऋग्वैदिक युग की देन नहीं है। वैदिक साहित्य में राजा, मंत्री, राष्ट्र, सेना, पुर अथवा दुर्ग का उल्लेख है लेकिन इस प्रणाली का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इसके साथ ही सुहृद् और कोष अंगों का भी अभाव है। संकेतों के आधार पर राज्य से सम्बन्धित तत्त्वों को समझने का प्रयास किया जा सकता है। राष्ट्र शब्द का प्रयोग भू-भाग के लिये हुआ है। राष्ट्र से भिन्न विश् शब्द है जो इन राष्ट्रवासियों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो राष्ट्र में सम्पूर्ण समाज के भरण-पोषण का भार स्वीकार करते थे।

विश् —

ऋग्वेद में इस शब्द की अनेक बार आवृत्ति हुई है[९]। सायण ने इसका अर्थ यजमान: किया है जबकि वेंकटमाधव ने 'मनुष्या:' अर्थ माना है जिसका अनुसारण विल्सन[१०] ग्रिफिथ[११] ओल्डेनबर्ग[१२] और गेल्डनर[१३] ने किया है। ग्रासमान[१४] ने इसके दो अर्थ दिये हैं - गृह और मानव जाति। दूसरा अर्थ रॉठ का अनुसरण मात्र प्रतीत होता है जिन्होंने सायण के 'मनुष्यान्' अर्थ का अनुसरण किया है[१५]। मैक्सम्यूलर[१६] ने भी जाति, मनुष्य, गृह आदि अर्थ ही माने है।

ऋग्वेद के दिवो विश:[१७], मानुषी विश:[१८] आदि से जाति, मनुष्य आदि का ही बोध होता है। ऋग्वेद में 'विश:' पद संज्ञा रूप में व्याख्याकारों द्वारा अर्थ की दृष्टि से संदिग्ध रूप में देखा गया है। मैक्डानेल का कथन है कि यह बहुत कुछ संदिग्धार्थक है किन्तु फिर भी ऋग्वेद में बहुत से मन्त्रों में इसका अर्थ (निवास स्थान) या गृह है क्योंकि यह 'विश्' उपवेशने धातु से निष्पन्न है। दूसरे स्थानों में यह 'प्रजा' अर्थ का द्योतक है जहाँ पर यह किसी राजा आदि से सम्बन्धित है। कुछ स्थानों पर यह 'सामान्य' जन समुदाय का बोधक है[१९]। मैक्डानेल का कथन पूर्णरूपेण तर्क संगत नहीं है। विश:, विश् धातु से अवश्य निष्पन्न है जिसका अर्थ कोषकारों ने बैठना, प्रवेश करना व्यवस्थित होना, मिलना, अन्दर जाना, प्रवाहित होना आदि माना है[२०]। किन्तु ऋग्वेद में विश: पद या 'विश्' से निष्पन्न शब्द के अन्य रूप कहीं भी गृह अर्थ के वाचक नहीं प्रतीत होते। सायण ने सर्वत्र इसका अर्थ प्रजा किया है और यह उचित प्रतीत होता है। ऋग्वेद में 'विश:' किसी जाति विशेष का नाम नहीं है अपितु इससे सामान्य जाति का बोध होता है इसलिये 'विश: के पूर्व दैवी, मानवी, दासी, राक्षसी, और तृत्सु आदि विशेषण भी मिलते हैं। ऋग्वेद में विश् का अर्थ प्रजा, जाति अथवा प्राणी ही है। ऐ० ब्रा०[२१] में कहा गया है कि 'राजा को प्रजाएँ नमन करती है अथवा

समृद्धशाली राजा के राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र नमन करते हैं इसीलिये राष्ट्र ही 'विश:' कहे गये हैं। 'क्षत्रं वै होता विशो होत्रा शंसिन: क्षत्रायेव तद्विशं प्रत्युद्यामिनी कुर्यु:'। यहाँ क्षत्र का तात्पर्य राजन्य या राजा से या क्षत्रिय से है जो अधिपति या शासन करता है, विश: प्रजा का द्योतक है। राजा या क्षत्रिय प्रजा का स्वामी होता है इसीलिये ऋग्वेद में अग्नि आदि देवताओं को 'विश:' राजा या स्वामी कहा गया है[२२]।

अत: विश् प्रजा का पर्याय है। राजा का स्थान समाज में अद्वितीय था। इस तरह तत्कालीन राज्य व्यवस्था में ब्रह्म और क्षत्र अर्थात् ब्राह्मण और राजन्य दोनों जन साधारण से पृथक् नहीं समझे जाते थे। राज्य की प्रजाएँ उन्हीं को स्वीकार किया गया जिनके जीवन का व्रत राज्य में ब्राह्मण, राजन्य, शूद्र और स्वयं के भरण-पोषण का संवर्द्धन करना था। इन्हीं को विश् कहा गया और इन्हें वेदकालीन राज्य का तत्त्व स्वीकार किया गया। आधुनिक राज्य की परिकल्पना एवं तत्कालीन राज्य की परिकल्पना में यही मूलभूत अन्तर है।

राष्ट्र

राष्ट्र का तात्पर्य उस भू-भाग से है जो राज्य की सीमा के अन्तर्गत हो इसके स्वरूप पर ऋग्वेद नें कहीं भी सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता है। संहिता काल के समय ऋषियों की जो धारणा थी, उसका अनुमान कतिपय स्तुतिपरक ऋचाओं के आधार पर किया जा सकता है। एक जगह उल्लेख है कि[२३] हे सोम! जिस भू-भाग (लोक) में आनन्द, आमोद-प्रमोद आदि हैं और जहाँ सम्पूर्ण कामनाएं तृप्त हो जाती हैं वहाँ मेरा वास हो। जिस लोक में सूर्य देव राजा हैं, जो सुख का द्वार है जहाँ जल से परिपूर्ण नदियाँ प्रवाहित होती हैं उसी लोक में हमारा वास हो[२४]।

> यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
> यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥(ऋ० ९.११३.८)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर आदर्श राष्ट्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है और उसके आधार पर राज्य के तत्त्व के रूप में राष्ट्र के स्वरूप की स्थापना होती है।

तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा के अनुरूप राज्य के तत्त्व के रूप में ब्रह्म, क्षत्र, विश् और राष्ट्र को स्वीकार किया जा सकता है। ब्राह्मण ब्रह्म का और राजन्य क्षत्र का प्रतीक माना गया है। ब्रह्म परमाधिकारी अथवा प्रभुता सम्पन्न कहा गया है[२५]।

राजा

ऋषियों ने समकालिक प्रजा के कल्याण के लिये राजा की आवश्यकता को आवश्यक समझा। वैदिक साहित्य में जहाँ कहीं भी राजा अथवा उसके पद का उल्लेख है उसके प्रति महान् आदर, सम्मान प्रदर्शित किया गया है और उसकी आवश्यकता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त की गयी है[२६]। प्रजा के सम्पूर्ण सुखों का ध्यान रखते हुये, उन्हें भयमुक्त रखना राजा के सहयोग के बिना असम्भव था। इसीलिये राजा को राज्य का जन्म स्थान और उसका केन्द्र कहा जा सकता है। ऋग्वेदीय समाज का निर्माण पुरुष सूक्त[२७] द्वारा निर्दिष्ट कार्य विभाजन सिद्धान्त पर आश्रित है। जिसका सम्पूर्ण दायित्व राजा के ऊपर है। राजा अथवा राजन्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के बाहुओं से माना गया है[२८]। यह वह वर्ग है जिसमें क्षत्रिय बल का प्राधान्य हो और जो युद्ध में शौर्य प्रदर्शन करने की सामर्थ्य रखता हो[२९]। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि क्षत्रिय राज्याधिकारी था। ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र को राजपद प्राप्त करने का कोई सन्दर्भ नहीं प्राप्त होता।

ऋग्वेद में राजा का वरण किया जाता था। ऋ० १०.१७३.१ में उल्लेख है कि हे राजन्! तुझे हमारे राष्ट्र का स्वामी बनाया है। तू हमारा राजा हो, तू नित्य अविचल और स्थिर होकर रह। प्रजाएँ तुम्हें स्नेह करें, तुझसे राष्ट्र नष्ट न होने पाये[३०]। इसी तरह ऋग्वेद १.२३.१४ में कहा गया है कि भय से त्रस्त लोग अपने भय से मुक्त होने के लिये राजा का वरण करते हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेदकालीन राज्यों में राजपद का स्वरूप वरणशील था। राजा का चुनाव होता था तथा उससे अचल एवं धर्म से परिपूर्ण शासन की कामना की जाती थी। ऋग्वेद में वर्णित इस सिद्धान्त को कि राजा का वरण राष्ट्रवासियों द्वारा किया जाना चाहिए, अथर्ववेद[३१] में भी दृष्टिगत होता है। एक जगह कहा गया है कि सभी को कम्पित कर देने वाले क्षत्रिय को मनुष्य उसी प्रकार अपना राजा बना लेते हैं जिस प्रकार तारागण चन्द्रमा को अपना राजा बनाते हैं[३२]।

अतः राज्य की जनता के स्वीकृति के आधार पर राजा की प्रतिष्ठा हुई। ऋग्वेद[३३] में इन्द्र को भोज उपाधि दी गयी है। वहाँ कहा गया है – हे ऐश्वर्यमान इन्द्र! तुझको विद्वान लोग अभीष्ट दाता क्यों कहते हैं? विशेष दानी होने के कारण 'भोज' उपाधि राजा के लिये ही प्रयुक्त होती रही है।

ऋग्वेद में राजा के लिये 'धृतव्रत'[३४] विशेषण प्रयुक्त हुआ है। व्रत शब्द का प्रयोग कार्य तथा कर्तव्य के अर्थ में हुआ है[३५]। व्रत शब्द के अर्थ को प्रो० बी० एम०

आप्टे ने सामान्यतया दो भागों में विभक्त किया है (१) देव सम्बन्धी और (२) मानव सम्बन्धी। प्रथम के अन्तर्गत ये अर्थ हैं — चारों ओर घूमना, विकास, मार्ग, रास्ता, घिरा हुआ स्थल, मण्डल, प्रकृति, नियम, अधिनियम, आदि।

द्वितीय के अन्तर्गत ये अर्थ हैं — शारीरिक कर्म, व्यवहारिक कर्म धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का योग, कर्तव्यनिष्ठा आदि।

प्रो० पी० वी० काणे ने आप्टे के सिद्धान्त की आलोचना करते हुये 'व्रत' शब्द को वृ (चुनना) धातु से निष्पन्न माना है। उनके अनुसार 'व्रत' शब्द का अर्थ आज्ञा, नियम, अध्यादेश, धार्मिक कर्म, याज्ञिक कर्म आदि हैं[३६]। इस प्रकार 'व्रत' शब्द के अर्थ के साथ धृतव्रत का अर्थ नियामक, व्यवस्थापक, मार्ग रक्षक, कर्म का धारक आदि संभव है। अत: राजा प्रजा का नियामक अथवा व्यवस्थापक होता था।

राजा की उत्पत्ति का कारण लोक में परस्पर भय था जिसके परिणामस्वरूप उनको राजा की आवश्यकता पड़ी[३७]। इस दृष्टि से राजा अपनी प्रजा के जीवन, उसकी सम्पत्ति, तथा उसकी विविधप्रकार की आवश्यकताओं एवं स्वतन्त्रता आदि के मार्ग में उपस्थित होने वाली सभी प्रकार के विघ्न से उसे मुक्त करने की सम्यक् योजना एवं व्यवस्था के विधिवत् सञ्चालन का सम्पूर्ण दायित्व लेता था। राजा का प्रधान कर्त्तव्य अपने अधीन प्रजा को भय से मुक्त करना एवं उसे अभय प्रदान करना था।

ऋग्वैदिक समाज में राजनैतिक चेतना

किसी भी सभ्यता का परिचय उस सभ्यता की प्रमुख संस्थाओं के अध्ययन करने से प्राप्त किया जा सकता है। इनका आश्रय ग्रहण कर वह जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। अत: वैदिक आर्यों के राजनैतिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यवहारिक रूप के अध्ययन हेतु उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत् ज्ञान आवश्यक है।

ऋग्वेद में आर्यों की कतिपय संस्थाओं की ओर संकेत है। ये वे संस्थायें जान पड़ती है जिनका निर्माण आर्यों के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए हुआ था। इन संस्थाओं में प्रमुख संस्था के रूप में सभा एवं समिति है।

सभा

ऋग्वेद[३८] में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय संस्था थी। सभा से सभा तथा सभा भवन का तात्पर्य है। इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि जब सभा कोई सार्वजनिक कार्य नहीं सम्पन्न कर रही होती थी तब सम्भवत: सभा भवन का स्पष्टत: द्यूत कक्ष[३९] के रूप में प्रयोग किया जाता था। एक द्यूतकार को निश्चित रूप

से इसलिये सभास्थाणु (सभा भवन का स्तम्भ) कहा गया है कि वह वहाँ सदैव उपस्थित रहता था[४०]। लुड्विग के अनुसार सभा समस्त प्रजाजनों की नहीं वरन् ब्राह्मणों और मघवनों (सम्पन्न दाताओं) की होती थी[४१]। इसके लिये सभेय,[४२] सभावान्[४३], सभावती[४४] आदि शब्द व्यवहृत हुआ है।

त्सिमर[४५] सभा को ग्रामणी की अध्यक्षता में एकत्र ग्राम-परिषद् के आयोजन स्थल का द्योतक मानते हैं।

यदि सभा ग्राम परिषद् की बैठकों का स्थान अथवा भवन मात्र होती तो सभा के सदस्यों एवं सभासदों का होना कैसे सम्भव था ? जब कि अथर्ववेद[४६] के अनुसार सभा के सदस्य सभ्य एवं सभासद कहलाते थे। वे सभा में भाषण किया करते थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि सभाभवन अथवा सभा के बैठक के स्थान को भी सभा कहते थे। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि सभा संस्था नहीं थी।

ऋग्वेद में सभा और समिति का अस्तित्त्व अलग-अलग था। सभा और समिति के अपने अलग-अलग कार्य थे और दोनों केन्द्रीय स्तर पर सञ्चालित होती थी।

सभा के संगठन के विषय में प्रमाणिक साक्ष्यों का अभाव है। सभा का शाब्दिक अर्थ प्रकाशित होना है[४७]। वैदिक सभा का तात्पर्य तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुषों की बैठक अथवा उनके एकत्र होने का स्थान है अर्थात् सभा की सदस्यता का अधिकार विशिष्ट या तेजस्वी लोगों को ही था। जिनमें सदस्यता के अनुरूप वाञ्छनीय गुण विद्यमान होते थे। सभा के सदस्यों को सभ्य अथवा सभासद की उपाधि से विभूषित किया जाता था[४८]। ऋग्वेद में कहा गया है — जो दान देता है, उसके लिये सोम गाय देता है, उसी तरह सोम वेगवान् घोड़ा भी देता है, तथा कर्मकुशल युद्ध में प्रवीण घर की दक्षता रखने वाला, सभा में प्रमुख, पिता का यश बढ़ाने वाला वीर पुत्र सोम की कृपा से मिलता है[४९]।

अतः कहा जा सकता है कि सभा की सदस्यता लोक की दृष्टि में विशेष राष्ट्रीय सम्मान से युक्त मानी जाती थी। यदि वैदिक राष्ट्र के शक्ति की आधार शिला थी तथा एक सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन की मूलभूत इकाई थी 'कुल' या 'गृह' समूह मिलकर 'ग्राम' एवं ग्राम समूह मिलकर 'विश' तथा विश का समूह मिलकर 'जन' का निर्माण करते थे। 'जन' द्वारा निर्मित 'सभा' और 'समिति' राजा की शक्ति एवं इच्छा पर नियन्त्रण रखती थी।

सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशी को यशस्वी पुरुष होना आवश्यक था। दूसरी योग्यता के रूप में उसका भद्रभाषी होना भी अनिवार्य था[५०]। भद्रभाषी का तात्पर्य यह था कि जिस पुरुष की वाणी प्राणि मात्र के कल्याण हेतु वचन

बोलने में निरन्तर रत रहती हो। उसकी तीसरी योग्यता के लिये 'बृहद्वाणी'[५१] की क्षमता होना भी आवश्यक था। बृहदवाणी का तात्पर्य गम्भीर ओजपूर्ण स्पष्ट एवं सारयुक्त वचन से है। इन योग्यताओं के अतिरिक्त सभासद का यथार्थवादी होना भी आवश्यक था[५२]। अथर्ववेद[५३] में सभासद को पिता कहकर सम्बोधित किया गया है। अर्थात् सभासद में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि जिस प्रकार पिता परिवार के प्रति उत्तरदायी होता है उसी प्रकार सभासद राष्ट्र के कल्याण के प्रति समर्पित हो।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदकालीन सभा के विषय में विशेष सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि तत्कालीन सभा के क्या कार्य थे उसकी कार्यप्रणाली क्या थी। इसके अन्तर्गत कोई न्याय समिति थी अथवा नहीं ? यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में सभा एक महत्वपूर्ण संस्था थी जो राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी थी इसमें नारियों को भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त था अथवा नहीं यह अभी भी शोध का विषय बना रहेगा। एक भी ऐसे सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते जिसके आधार पर कहा जा सके कि सभा में नारियों की क्या स्थिति थी। संहिताओं में कतिपय ऐसी नारियों का उल्लेख है जो ब्रह्मवादिनी और मन्त्रदृष्टा थीं[५४]।

समिति

ऋग्वेद में समिति[५५] का उल्लेख है लेकिन ऐसे प्रमाण नहीं है कि समिति एक पृथक राजनीतिक या बौद्धिक संस्था थी। सभा और समिति की कार्य प्रणाली क्या थी इस पर विशेष सामग्री नहीं प्राप्त होती। ऋग्वेद[५६] में प्रयुक्त 'देवताता' पद का अर्थ ग्रिफिथ ने देव समिति किया है[५७]। सभा और समिति वैदिक लोगों की दो मुख्य संस्थायें थी सभा जितनी महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी थी उसी तरह समिति का भी स्थान था। अथर्ववेद[५८] में समिति को सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है। ये प्रसंग समिति को पुरातन संस्था होना प्रमाणित करते हैं। ऋषियों ने समिति को अपने समय की महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय संस्था के रूप में वर्णित किया है[५९] अर्थात् समिति का अस्तित्व ऋग्वेद काल में निर्विवाद रूप से स्थापित कहा जा सकता है।

अथर्ववेद[६०] में उल्लेख है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्म हत्या होती है वहाँ मित्र और वरुण जल वृष्टि नहीं करते, समिति वहाँ कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते। यहाँ समिति का सक्रिय होना आवश्यक समझा गया है जिसके बिना राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास अपूर्ण समझा जाता था। समिति शब्द 'सम्' और इति के संयोग से बना है जिसका अर्थ एकत्र होना है इस दृष्टि से समिति आर्यों

की सार्वजनिक संस्था प्रतीत होती है। अत: यहाँ कहा जा सकता है कि 'सभा' विशिष्ट पुरुषों के लिये हुआ करती थी जबकि समिति का प्रभाव सामान्यजन तक था। संभवत: राष्ट्र के सभी निवासी समिति में बैठ सकते थे। इस तरह से समिति सभा की तुलना में एक उदार संस्था थी। अथर्ववेद में समिति के सदस्य को समित्य कहकर सम्बोधित किया गया है।

समिति की कार्य पद्धति

ऋग्वेद में समिति के विषय में कहा गया है कि उनकी समिति में एकमत हो समिति के सदस्यों के चित्त, उनके मन और उनके द्वारा निर्णीत निर्णय एकमत रहें[६१]। इससे मालूम होता है कि आर्यों के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ के समाधान हेतु समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। संभवत: समिति में इस पर गम्भीर विवेचन के बाद ही निर्णय किया जाता था। यहाँ पर समिति का सम्बन्ध चित्त और व्रत से जोड़ा गया है[६२] अर्थात् सामित्यगण विचार कर संकल्प करें और एक मन से प्रस्तुत संकल्प पर अपना निर्णय दें। इसी तरह का सन्दर्भ अथर्ववेद[६३] में भी प्राप्त होता है। प्रस्ताव को संकल्प और नीति को मंत्र के नाम से सम्बोधित किया गया है[६४]। प्रस्तावों को सर्व सम्मति द्वारा पारित किया जाना प्रशंसनीय समझा जाता था। राज्य की आन्तरिक एवं वाह्य नीतियों का वरण संभवत: इसी संस्था के द्वारा संभव होता था। प्रजा के द्वारा राजा के वरण करने के सन्दर्भ को[६५] समिति के साथ जोड़ा जा सकता है। यह कार्य समिति के रूप में एकत्र होकर सम्पन्न करती थी। इस प्रकार समिति का प्रधान कार्य राष्ट्रवासियों के लिये राजा का चुनाव करना था। संभवत: समिति निष्कासित राजा की पुन: स्थापना की भी अधिकारिणी थी[६६]। इस प्रकार से आर्यों की प्रभुता सम्पन्न संस्था के रूप में प्रतिष्ठित थी। प्रजा के लिये राजा का वरण करना, अयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, राज्य की नीति निर्धारण करना, आदि समिति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

विदथ

इस संस्था के विषय में पर्याप्त मतभेद है। यह सभा और समिति के अन्तर्गत थी अथवा इससे भिन्न। ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सभा और समिति की तरह विदथ भी एक प्रमुख संस्था थी। ऋग्वेद १.६०.१ के आधार पर त्सिमर का कहना है कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी[६७]। विदथ का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न था। रॉठ के अनुसार विदथ मूल संस्था थी। उसी से समिति, सभा और सेना की उत्पत्ति हुई[६८]। यह शब्द ऋग्वेद में ११२ बार आया है[६९]। इसके विभिन्न रूप

'विदथम्, विदथस्य, विदथा, विदथानि, विदथाम्, विदथे, और विदथेषु ऋग्वेद में आये है। सायण ने विदथ 'विद्ज्ञाने' धातु से निष्पन्न मानते हुये इसका अर्थ प्राय: सभी जगह यज्ञ किया है। साथ ही उन्होंने अनुष्ठेयानि, ज्ञानानि, कर्माणि स्तोत्र, गृह आदि अर्थ भी किये है किन्तु सर्वत्र यज्ञ के प्रसंगों से इन्हें सम्बद्ध किया है। वेंकटमाधव ने भी यज्ञ अर्थ ही माना है। ग्रासमान, ओल्डेनबर्ग तथा ग्रिफिथ ने राँठ द्वारा दिए गए सभा या जनसमुदाय अर्थ का अनुसरण किया है[७०]। इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। विदथ को विद् धातु से निष्पन्न मानना ही उचित प्रतीत होता है। साथ ही विदथ का यज्ञ या सभा अर्थ ही संगत प्रतीत होते हैं क्योंकि अनेक मन्त्रों में यजन करने, स्तुति करने[७१] या मन्त्र कहने[७२] तथा स्तम्भ को अञ्जित करने आदि के वर्णन मिलते हैं।

अत: ऋग्वेद में विदथ को भी एक बौद्धिक संस्था के रूप में माना जा सकता है जिसमें विद्वत्तापूर्ण चिन्तन किया जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि विदथ की सदस्यता सोम की उपासना का प्रसाद है। यह पद उसे सोम की कृपा से प्राप्त हो सकता है[७३]। विदथ का सम्बन्ध धीमान्, विप्रो से[७४] एवं अश्विनी कुमारों से भी जोड़ा गया है[७५]। विदथ को कवियों की संस्था भी कहा गया है[७६]। कवि राजकीय इच्छा का संवाहक नही है। वह स्वतन्त्र होता है। उसकी प्रज्ञा पुरुपेशला होती है, सर्वातिशायिनी होती है[७७]।

अत: यह संस्था, धीमान, विद्वान, वैदिक कर्मकाण्ड में दक्ष, क्रान्तदर्शी, निर्भीक तथा पवित्र आचरण से युक्त पुरुषों की थी। विदथ का कार्य वैदिक यज्ञों का आयोजन करना अथवा कर्मकाण्ड के व्यवहारिक रूपों के प्रतिपादन द्वारा राष्ट्र के कल्याण के लिये विचार करना था।

ऋग्वैदिक प्रशासनिक तन्त्र

विराट् पुरुष के विभिन्न अवयवों से सृष्टि के विविध रूपों के जन्म एवं उनके विकास की कल्पना की गयी है[७८]। उनके मुख, बाहु, उदर एवं पैर से ही समाज के विभिन्न अंगो की उत्पत्ति बताई गई है। प्रशासनिक ढांचे के ज्ञान के लिए पूरे ग्रन्थ में इतस्तत: बिखरी सामग्री को मूल स्रोतों से एकत्र करने की अनिवार्यता है। राज्यों के संगठन एवं सञ्चालन हेतु स्वनिर्मित संविधान शासन के अधिपति की नियुक्ति, उसका क्षेत्राधिकार, उसके कर्त्तव्य और पदच्युति आदि सभी विषयों का निर्धारण पूर्व निर्धारित एवं निश्चित नियमों एवं सिद्धान्तों के आधार पर होता था। यह संविधान परम पुनीत समझा जाता था। वह अलंघनीय एवं सर्वमान्य था। राज्य के प्रशासनिक इकाइयों का पृथक-पृथक अपना स्वरूप था और तदनुसार ही उनके पृथक-पृथक संविधान

होते थे। इन्हीं संविधानों के आधार पर प्रशासन की रूपरेखा बनायी जाती थी। इनमें कुछ संविधानों के संकेत हमें प्राप्त होते हैं[७९]।

शासन से सम्बन्धित नियम एवं अधिकारी —

इसके अन्तर्गत राज्य का सर्वोच्च शासक अधिपति अथवा राजा कहलाता था। इसके लिये उसका क्षत्रिय होना आवश्यक था। राजन् शब्द का एक अर्थ क्षत्रिय है। मनु ने भी क्षत्रिय को राजा के योग्य ठहराया है[८०]। धर्मशास्त्र[८१] में 'राजा' शब्द उसके लिये आया है जो किसी देश पर शासन करता है या उसकी रक्षा करता है। राज्य के संविधान को विधिवत् सञ्चालित करने के लिये एक सङ्गठित प्रशासन तन्त्र की आवश्यकता को समझा गया एवं उसके सम्यक् सञ्चालन हेतु अकेला राजा पर्याप्त नहीं होता, उसके लिये विविध ज्ञान सम्पन्न, अनेक सहयोगियों के सक्रिय योगदान की आवश्यकता भी समझी गयी। यद्यपि ऋग्वेद में इस प्रकार की सामग्री अति अल्प है, जिसके आधार पर ऋग्वैदिक राज्य के प्रशासकों के विविध पदों कर्त्तव्यों एवं अधिकारों आदि के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया जा सके। वैदिक शासन पद्धति की सर्वोत्तम विशेषता यह थी कि वह जनतन्त्रात्मक प्रणाली के प्रथम रूप पर आधारित थी। वैदिक जनतन्त्र पूर्ण रूप से अनुशासित था। सभा के प्रत्येक सदस्यों की बातों का समान महत्त्व था। तथापि राजा को सर्वाधिक बुद्धिमान एवं विवेकी माना जाता था क्योंकि ऐसे ही व्यक्ति को सभा राजा के रूप में वरण करती थी।

वैदिक साहित्य में राजा के राज्याभिषेक के विविध कृत्यों के वर्णन में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख है। इन्हें राजकर्त्ता के नाम से सम्बोधित किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन विशिष्ट व्यक्तियों की सहायता एवं सहयोग से भावी राजा राजपद प्राप्त करता था। इन्हें रत्निन् भी कहते थे। राजा की मन्त्रिपरिषद् के विशिष्ट व्यक्ति रत्निन् होते थे।

अथर्ववेद में ये पाँच राजकर्ता बतलाये गये हैं[८२] — रथकार, कर्मार (शिल्पी), सूत, ग्रामणी, और राजगण ......। राजगण का तात्पर्य भावी राजा से है जिसके अभिषेक का प्रस्ताव है। तैत्तरीय ब्राह्मण में यह संख्या बढ़कर बारह हो गयी है जो इस प्रकार है — ब्राह्मण (पुरोहित), राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ति, सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्रिय, संग्रहीता, भागदुध और वार्प[८३]। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर वेदकालीन राज्य व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

१. पुरोहित —

पुरं एनं दधाति, होत्राय वृतः[८४] अर्थात् इनको सभी कार्यों में आगे रखते हैं, इसलिये ये पुरोहित है। किस तरह के व्यक्ति को पुरोहित होना चाहिए इस विषय में ऐ० ब्रा० में कहा गया है — 'यो हवैत्रीन्पुरोहितां-स्त्रीन्पुरोधातृन्वेद सब्राह्मणः

पुरोहित: ...., ऐ०ब्रा० ८.५.२७। जिस राजा का राष्ट्र रक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजा उसको निरन्तर एकमत होकर नमन करती है[८५]। ऋग्वेद में पुरोहित शब्द का उल्लेख अवश्य है लेकिन उसे यह मानना कठिन है कि यह राजा के पुरोहित के सन्दर्भ में ही उल्लिखित है।

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में पुरोहित शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ सायण ने 'यज्ञस्य' के साथ अन्वित किया है किन्तु वेंकटमाधव ने इसे स्वतन्त्र रूप में मानकर इसकी व्याख्या पुरोनिहितमुत्तरवेद्याम् किया है। पाश्चात्य व्याख्याकारों में ओल्डेनबर्ग, मैक्डानेल गेल्डनर आदि ने भी इसी रूप में स्वीकार किया है, जिनमें मैक्डॉनेल ने इसका अनुवाद 'गृह-पुरोहित' और गेल्डनर ने नियोजित अधिकारी या स्वामी किया है। ओल्डेनबर्ग ने इसे पुरोहित ही रहने दिया है। पुरोहित, ऋत्विज, होतृ आदि अग्नि के सामान्य नामों के रूप में ऋग्वेद[८६] में आये हैं।

अत: पुरोहित का सम्बन्ध यज्ञ के साथ ही मानना उचित है। इससे सिद्ध होता है कि धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रति पुरोहित का ही उत्तरदायित्व था। किन्तु जैसा कि हम शासन व्यवस्था के सन्दर्भों से जानते हैं कि पुरोहित वस्तुत: राजा पर अंकुश का कार्य करता था। वह यह सुनिश्चित करता था कि राजा विपथ तो नहीं हो रहा है अथवा राज्य में नैतिक मूल्यों की अवमानना तो नहीं हो रही है। पुरोहित राजा को राजधर्म की शिक्षा देता था। पुरोहित की राजा के साथ अनिवार्य नियुक्ति के कारण राजा निरंकुश होते हुए भी अनैतिक आचरण नहीं कर सकता था।

२. सेनानी —

किसी भी राष्ट्र के लिए सेना का संगठन आवश्यक है। तत्कालीन समाज की सुरक्षा के लिये सेना का संगठन किया गया था। और उसे एक सर्वोच्च पदाधिकारी की देख रेख में रखा जाता था। यह सर्वोच्च पदाधिकारी सेनानी कहलाता था। राजा के रत्नों में सेनानी की विशेष प्रतिष्ठा थी। प्रस्तावित राजा की नियुक्ति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। ऋग्वेद में सोम को राजपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। कोष[८७] में भी सेनानी का अर्थ सैन्य नायक ही किया गया है। ऋग्वेद[८८] में इसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि मानवों का हित करने वाला सेनानायक प्रभावयुक्त होता है। वह सबका स्वामी होता है, पर शत्रुनाशक, गौवों को प्राप्त करने वाला और शत्रुओं का घर्षण करने वाला है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी सेनानी का संदर्भ प्राप्त होता है।

यो वं: सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूवं।
तस्मैं कृणोमि न धनां रूणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वंदामि॥

ऋ० १०.३४.१२

अत: कहा जा सकता है कि सेनानी सुरक्षा के मामले में सर्वोच्च अधिकारी होता था तथा राज्य के उच्च कार्यकर्त्ताओं में प्रमुख था। वर्तमान समय के समान ही उस समय भी सेनानी पद शोभित होता था।

३. ग्रामणी —

ग्रामों से ही वैदिक भारत का निर्माण हुआ था। ग्राम शब्द के विभिन्न रूप ऋग्वेद में प्राप्त होते है जैसे ग्रामजित:[८९] ग्रामस्[९०] ग्रामा:[९१] ग्रामास:[९२] ग्रामे[९३] ग्रामेभि:[९४] ग्राम्या:[९५] आदि। ग्राम का योगक्षेम चिन्तक, नेता ही ग्रामाधिकारी अथवा ग्रामणी कहलाता था[९६]।

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥ ऋ० १०.१०७.५

अर्थात् दानवान् को सर्वप्रथम बुलाया जाता है, दक्षिणावान्, दानशील ग्रामाध्यक्ष सबसे आगे चलता है, उसे ही मैं सबका पालक राजा मानता हूँ जो सबसे पहले मनुष्यों को दक्षिणा देता है[९७]।

उपर्युक्त सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि ग्रामणी पद विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित होता था। यह संभवत: असैनिक और सैनिक दोनों प्रकार का अधिकारी था जिसके दोनों प्रकार के कर्त्तव्य थे। यह ग्राम के प्रति उत्तरदायी था ग्राम का प्रबन्ध करना इसका महत्त्वपूर्ण कार्य था।

४. सूत —

सूत का तात्पर्य सारथि से है लेकिन ऋग्वेद में इससे सम्बन्धित सन्दर्भ नहीं प्राप्त होते हैं। उत्तर वैदिक काल में सूत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यजुर्वेद में भी अप्रत्यक्ष रूप से इसका सन्दर्भ आया है। अथर्ववेद[९८] में भी इसकी चर्चा है।

अत: राज्य पदाधिकारियों में से सूत का स्थान अवश्य था, लेकिन इसकी आवश्यकता संभवत: ऋग्वेद काल के अन्तिमचरण में प्रारम्भ हुई क्योंकि इसके सन्दर्भ में ऋग्वेद से कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती। ऋग्वेदकालीन समाज के सञ्चालन में राजा की सहायता मुख्य रूप से यही तीन वरिष्ठ अधिकारी करते थे। इनका राजा की तरह ही सम्मान था तथा अपने-अपने कर्त्तव्यों के प्रति ये उत्तरदायी होते थे।

राजकोश

आचार्य कौटिल्य अर्थ को प्रधान पदार्थ मानते थे[९९]। राजा का मूल कोश और सेना

है। सेना का मूल कोश है। सेना सम्पूर्ण धर्मों का मूल है और धर्म ही प्रजा का मूल है। इसलिये सबके मूल कोश की वृद्धि करनी चाहिए[१००]। राज्य सञ्चालन हेतु उपयोग किया गया अर्थ ही कोश कहलाता है।

कोश सञ्चय के साधन

वेदकालीन शासन व्यवस्था के सञ्चालन के लिये धन का सञ्चय मुख्यत: बलि और शुल्क के माध्यम से होता था। ऋग्वेद में बलि द्वारा धन प्राप्त करने का उल्लेख है। ऋग्वेद ७.६ में कहा गया है कि जो आसुरी घातकों को अपने आयुधों से विनम्र करता है, जो सूर्यपत्नी उषा का निर्माण करता है, उस महान् अग्नि ने अपनी शक्तियों से प्रजा का विरोध करके, उस प्रजा को राजा का कर देने वाला बना दिया[१०१]। यहाँ कर के लिये बलि शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में इन्द्र को अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी बताया गया है। वहाँ कहा गया है[१०२] —

ध्रुवं ध्रुवेणं हविषाऽभि सोमं मृशामसि।
अथों त इन्द्रः केवंलीर्विशों बलिहृतंस्करत्॥ **ऋ० १०.१७३.६**

अर्थात् अक्षय्य पुरोडाशादि युक्त हवि से हम स्थिर सोम को प्राप्त करते हैं। अनन्तर इन्द्र तेरी प्रजा को तेरे लिए ही केवल कर देने वाली करे।

यहाँ राजा को कर का अधिकारी माना गया है। उपर्युक्त सूक्त का देवता भी राजा है अर्थात् उक्त सूक्त राजपरक है जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रजा से राजा कर प्राप्त करता था। कोष[१०३] में बलि का अर्थ भेंट या देय माना है जिसका तात्पर्य है बलि प्रजा द्वारा देय भेंटे होती थी जिसे कर के रूप में माना जा सकता है। यह बलि क़िस रूप में दी जाती थी इसके विषय में निश्चित प्रमाणों का अभाव है। ऋग्वेद[१०४] में इन्द्र को युद्ध के समय दी जाने वाली बलि का भी उल्लेख है। इसी तरह ऋ० ५.१.१० में तुभ्यं भरन्ति... बलिम्[१०५] प्रयुक्त किया गया है। देय भेंट का स्वरूप कुछ भी हो सकता था, वह युद्ध के समय अस्त्र शस्त्र भी दे सकता था। ऋ० ८.१००.९ का सन्दर्भ संभवत: इसी बलि के रूप में है। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में बलि के माध्यम से कर लेने का चलन प्रारम्भ हो चुका था। जो सम्भवत: प्रजा की रक्षा हेतु राजा द्वारा उस पर लगाया गया था।

शुल्क

ऋग्वेद में शुल्क[१०६] शब्द का सन्दर्भ आया है जिसका अर्थ[१०७] मूल्य माना जा सकता है। इसके विषय में कहा गया है कि मित्र और वरुण का तेज बढ़ाने के लिए बल

को बढ़ाते हैं। विशेष धन की प्राप्ति हो इसलिए तथा इसका जो स्थायी निज बल है उसको बढ़ाने के लिए यह किया जाता है[१०८] अर्थात् शुल्क के द्वारा राजकोष की वृद्धि होती थी। यह कर प्रजा से प्राप्त करके राजकोश में रखा जाता था उत्तरवैदिक काल तक कर की प्रक्रिया पूर्ण रूपेण विकसित हो चुकी थी।

बलि एवं शुल्क के अतिरिक्त धन सञ्चय का साधन विजय में प्राप्त धन भी हुआ करता था। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद १.७३.५ का सन्दर्भ दृष्टव्य है। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर इन्द्र ने पणियों के राजा से उसके गोधन की प्राप्ति के लिए दूती सरमा के द्वारा संदेश भेजा था। ऋ० १०.४२.४ में भी इन्द्र को अपने बल के प्रभाव से शत्रु की विशाल सम्पत्ति को जीतने की कामना की गयी है!

इस प्रकार हम देखते है कि ऋग्वैदिक काल के कर सञ्चय के साधनों में युद्ध के उपरान्त पराजित राज्य से भी धन प्राप्त करना भी मुख्य साधन था। इस विषय में निश्चित रूप से कह पाना कठिन है कि ऋग्वैदिक काल में कर को एकत्रित करने के लिये राज्य ने किसी प्रशासनिक कर्मचारी की नियुक्ति की थी अथवा नहीं। ऋग्वेद के अतिरिक्त बाद के साहित्य में गणक का कार्य सम्भवत: कर का हिसाब रखना था लेकिन ऋग्वेद में गणक शब्द के विषय में कोई परिचय नहीं प्राप्त होता है।

ऋग्वेदकालीन समाज में राष्ट्रीय सुरक्षा के सिद्धान्त

वैदिक समाज में भी ऐसे तत्त्व थे जो दूसरों के जीवन को अशान्त करते थे। यत्र-तत्र समाज के इन निन्दनीय तत्त्वों के विनाश की कामना की गई है। स्तेन, तस्कर, जार, आदि समाज में निन्दनीय तत्त्व थे[१०९]। समाज का यह वर्ग राष्ट्र के लिए शत्रु की तरह था। इसे आभ्यान्तर शत्रु की संज्ञा दी जा सकती है। जैसा कि कहा जा चुका है कि आर्य ग्रामवासी थे तथा पशुपालन उनका मुख्य व्यवसाय था। ग्रामणी का कार्य ग्राम में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना था। चोर, डाकू, जार आदि से ग्राम सुरक्षित रहे, इसके लिए योजना बनाकर उसका कार्यान्वियन करना ग्रामणी का परम धर्म था। राज्यों में आभ्यान्तर शत्रुओं के नियन्त्रण हेतु व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के द्वारा दुष्ट जनों से अप्रभावित रखने का यथा सम्भव प्रयास किया जाता था।

प्रत्येक राज्य अपने निवासियों को शत्रुओं से सुरक्षित रखने की व्यवस्था करता है। इन साधनों में सेना सबसे महत्त्वपूर्ण है। आर्यों ने इसे अच्छी तरह समझा था इसीलिए उसके सञ्चालन, इत्यादि के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है फिर भी यह कहना कठिन है कि सेना की आवश्यकता कब कहाँ और कैसे प्रतीत हुई।

सेना का स्वरूप —

आर्य एवं आर्येत्तर राज्यों में राष्ट्र रक्षा हेतु सेना रखी जाती थी । एक जगह उल्लेख है कि —सर्वव्यापी, शीघ्रता से शत्रु पर आक्रमण करने वाला, अत्यन्त तीक्ष्ण, वृषभ के समान भयङ्कर शत्रुहन्ता, मनुष्यों को विचलित करने वाला, शत्रुओं को रुलाने वाला, सदा सावधान और महान पराक्रमी वीर इन्द्र है । वह सैकड़ो सेना पर एक साथ विजय करता है[११०] । एक अन्य सन्दर्भ में इन्द्र को सेनानायक कहा गया है[१११] । वहीं पर इन्द्र की बलवती सेना का युद्ध करते हुये उल्लेख किया गया है[११२] । उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में सेना का सङ्गठन बहुत ही अच्छे ढंग से नियंत्रित था । सेना का स्वरूप स्थायी था अथवा नहीं यह कहना कठिन है लेकिन इतना निश्चित है कि युद्ध के समय आर्यों एवं उनके प्रतिस्पर्धियों के पास विशाल सेना होती थी। इस तरह की सेना को महासेना कहा गया है ।

संगठन —

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन के आधार पर यह प्रतीत होता है कि वैदिक सेना अंगों में विभाजित थी । ये अंग थे- पदारोही, अश्वारोही एवं रथारोही । ऋग्वेद में हाथी[११३] के उल्लेख के आधार पर गजारोही सेना की भी कल्पना की जा सकती है लेकिन इसके विषय में पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है । हाथी अरण्य पशु के रूप में आया है फिर भी वाहन के रूप में ऋग्वेद काल में उसका प्रयोग होने लगा था[११४] । यजुर्वेद में हिमालय के आस-पास इसकी उपस्थिति का भी संकेत है[११५] । अथर्ववेद में हाथी महान बली पशु कहा गया है[११६] । वहीं पर इसे सुख की सवारी भी कहा गया है[११७] । इतने उपलब्ध प्रमाणों के होते हुएभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद काल की सेना में गजारोही दल था अथवा नहीं । उसका वाहन के रूप में प्रयोग होने के आधार पर कहा जा सकता है कि युद्ध के समय भी आर्य इसका उपयोग किया करते थे । बाद में सेना में गजारोही दल की उपस्थिति से भी यह तर्क प्रमाणित होता है । सेना के इस अंग का मूल अवश्य ही ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ प्रतीत होता है ।

अश्वारोही —

ऋक् अश्व के महत्त्व का प्रतिपादन करता है । इसे उपयोगी कहा गया है और इसकी सहायता के बिना युद्ध में राजा विफल रहते थे । अपनी द्रुतगति एवं विशेष पुरुषार्थ के कारण अश्व की समता बाज और हरिण से की गयी है। ऋग्वेद में उल्लेख है —

यदक्रंन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् त्समुद्रादुत वा पुरीषात् ।
श्येनस्यं पक्षा हंरिणस्यं बाहू उंपस्तुत्यं महिं जातं तें अर्वन् ।

ऋ० १.१६३.१

हे अश्व ! समुद्र से सर्वप्रथम उत्पन्न होता हुआ अथवा पानी में से ऊपर आते हुये तुमने जो गर्जना की तुम्हारा वह जन्म प्रशंसनीय है । तुम्हारे दोनों पक्ष बाज के समान है और बाहुए हिरण के समान हैं । अश्व को यम, आदित्य, सोम आदि का पद दिया गया है[११८] और इन्हें अरातियों पर विजय दिलाने वाला कहा गया है[११९] ।

सेना में अश्वारोही दल के बीज निहित हैं । एक जगह कहा गया है कि 'हे अग्ने ! तुझसे रक्षित होकर हम अपने अश्वों से शत्रुओं के अश्वों का, अपने योद्धाओं के द्वारा शत्रुओं के योद्धाओं का और अपने पुत्रों के द्वारा शत्रुओं के पुत्रों का वध करें[१२०]। ऋग्वेद में अश्वी शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अश्वरोही सेना ही किया गया है[१२१] । ऋग्वेद में अश्वदा[१२२] अश्वपति[१२३] अश्वया[१२४] अश्वजनी[१२५] आदि शब्द मिलते हैं । एक जगह अश्वों के खुरों से उड़ायी गयी धूलि का भी वर्णन प्राप्त होता है[१२६]। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में अश्वारोही सेना का अस्तित्व था जो युद्ध-भूमि में प्रवेश कर युद्ध किया करती थी । इस तरह से ऋग्वेद काल में सेना के तीन अंगों की संभावना का पता लगता है ।

रथ सेना —

ऋग्वेद काल की सेना में रथ सेना का विशिष्ट स्थान प्रतीत होता है । रथ में सामान्यतया दो अश्व जोते जाते थे । इन्द्र के रथ में भी दो अश्व जुतते थे[१२७]। रथ में बैठकर युद्ध करने वाले योद्धा रथी कहलाते थे । इस प्रकार सामान्य रथों में बैठने के दो आसन थे, एक योद्धा के लिए दूसरा रथी के लिए । अश्विनीकुमारों के रथ में तीन लोगों के बैठने की व्यवस्था थी[१२८] । रथ की नाभि को नेमि और उसके आरों को अरा कहते थे[१२९] । चक्र के मुख्य तीन भाग होते थे जो नेमि, अरा और पदिधि कहलाते थे । ऋग्वेद में रथ का निर्माण कुशल कारीगरों द्वारा बताया गया है[१३०] और इन्हें रथकार[१३१] के नाम से सम्बोधित किया गया है । इसे रथवाहन की संज्ञा दी गयी है क्योंकि युद्ध के समय इसके अन्दर खाद्य सामग्री आयुध और कवच रखे जाते थे[१३२]। ऋग्वेद ६.७५.६ में कहा गया है कि — रथ में बैठा हुआ कुशल सारथि अपनी इच्छानुसार अश्वों को आगे ले जाता है और अश्वों की रासों के द्वारा इच्छानुसार ही उनका निग्रह करता है । अतः सब ओर से अश्वों को शीघ्र नियन्त्रण करने वाली रासों की स्तुति करनी चाहिए । इस मंत्र के माध्यम से सारथि का परिचय प्राप्त होता है ।

रथ में आसीन योद्धा को रथी कहा गया है[१३३]। रथी सामान्य श्रेणी के योद्धा समझे जाते थे क्योंकि रथीतर एवं रथीतम श्रेणी के योद्धाओं का भी परिचय प्राप्त होता है। ऋग्वेद में रुद्र को रथीतम उपाधि दी गई है[१३४]। रथीतर मध्यम श्रेणी के योद्धा हुआ करते थे[१३५]।

उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद कालीन रथ सेना के तीन विभाग थे। जो क्रमश: रथी, रथीतर एवं रथीतम के नाम से जाने जाते थे। इसके लिये क्या मापदण्ड था, इसके विषय में प्रमाणों का अभाव है। लेकिन वेदकालीन रथ सेना को संगठित सेना के रूप में स्वीकार किया जा सकता हैं तथा यह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये एक महत्त्वपूर्ण अंग थी।

सेना में स्त्रियों का स्थान —

ऋग्वेद में नारी सेना की ओर भी सङ्केत है। नमुचि नाम के असुर ने इन्द्र के विरुद्ध युद्ध करने के लिये नारियों की सेना संगठित की थी[१३६]। यहां उल्लेख है कि दास ने स्त्रियों को आयुध बनाया। इसकी स्त्रियों की सेना मेरा क्या करेगी? यह सोचकर इन्द्र ने इसकी दो सुन्दर स्त्रियों को अन्दर बन्द कर दिया और युद्ध करने के लिये दस्यु पर चढ़ाई कर दी[१३७]। इस सन्दर्भ से उस काल की नारी सेना का पता लगता है। इन्द्र ने नारी सेना को अबला सेना की संज्ञा दी है[१३८]। इन्द्र ने यह नियम बनाया था कि जो पुरुषों के विरुद्ध नारियों को युद्ध हेतु भेजता है, वह (इन्द्र) उस पुरुष की धन सम्पत्ति बिना युद्ध के ही दूसरों को दे देता है[१३९]।

अत: वैदिक आर्य स्त्री सेना के पक्ष में नहीं थे। अनार्यों ने अवसर आने पर इस प्रकार की सेना संगठित की थी।

सैनिक —

ऋग्वेद में सैनिक को योधी कहा गया है[१४०]। इनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था। जिन्हें शूर, भीरू और धावत् की उपाधि दी गयी थी[१४१]। युद्धस्थल से मुख न मोड़ने वाले वीर योद्धा को शूर की उपाधि से विभूषित किया जाता था। कायर सैनिक को भीरू और रणस्थल से भाग जाने वाले सैनिक को धावत् कहा गया है। इनके लिये ऋग्वेद में प्रतीच:, अनुच:, पराच: शब्द प्रयुक्त हुए हैं[१४२]।

इस प्रकार, उपलब्ध सामग्री के आधार पर ऋग्वैदिक सेना के स्वरूप एवं संगठन के विषय में यही कहा जा सकता है कि यह सेना, पदाति अश्वारोही, गजारोही एवं रथी से युक्त चतुरङ्गिणी सेना थी। युद्ध में कभी-कभी नारियाँ भी सहभागी होती थी

लेकिन उनके इस कृत्य को निन्दनीय समझा जाता था। सेना में मुख्य भूमिका सेनानी अथवा योधा की हुआ करती थी ।

ऋग्वैदिक आयुध

ऋग्वेदकालीन सभ्यता आर्य आर्येतर संघर्ष की सभ्यता है । आरम्भ में दोनों में आपसी सामञ्जस्य नहीं था । युद्ध उनके जीवन का अंग था । इस युद्ध में आर्य अपनी रक्षा के लिए जिन आयुधों का प्रयोग करते थे उन आयुधों में धनुष,[१४३] बाण,[१४४] तूणीर,[१४५] वज्र,[१४६] सृक,[१४७] हेति,[१४८] प्रहेति,[१४९] पाश,[१५०] असि,[१५१] परशु,[१५२] ऋष्टि,[१५३] रम्भिणी,[१५४] वाशी,[१५५] क्षुर,[१५६] शूल,[१५७] दण्ड,[१५८] एवं अश्मा[१५९] प्रमुख थे । इसके साथ ही शरीर रक्षा के लिये भी प्रतिरक्षी का प्रयोग किया जाता था । इन प्रतिरक्षियों को हम अंगरक्षक आयुध कह सकते हैं । इनमें ऋग्वेद में हमें बिल्मि, वर्म तथा कवच, रुक्म, एवं शिप्रा का सन्दर्भ प्राप्त होता है । ऋग्वेद के युद्ध सम्बन्धी सूक्तों में योद्धाओं के रथ पर सवार होकर धनुष-बाण से युद्ध करने का वर्णन प्राप्त होता है । ये योद्धा बाएँ हाथ में हस्तघ्न नाम का एक हस्त रक्षक प्रतिरक्षी धारण करते थे । यह धनुष के झटकों से हाथों को बचाने का कार्य करता था । ऋग्वेद में ज्या[१६०]और धनुष[१६१]शब्द का उल्लेख हुआ है । धनुष के वक्राकार होने का वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है[१६२]। इसकी ज्या या प्रत्यञ्चा चमड़े की तांत से बनायी जाती थी । प्रत्यञ्चा ज्यादातर ढीली रखी जाती थी तथा युद्ध के समय उसको कसा जाता था[१६३] । धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने को 'आतन' या 'आतनन्' कहा जाता था[१६४] । वासजनेयि संहिता में धनुष से बाणों के सन्धान का वर्णन है[१६५] । धनुष को वक्र बनाने की क्रिया को आयमन् कहते थे। प्रत्यञ्चा को कानों तक खींचकर बाण का सन्धान करने का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है । कानों तक खींचकर छोड़े जाने वाले बाण को 'कर्णयोनि' कहा गया है[१६६] । इस प्रकार बाण छोड़ने पर 'ज्याघोष' उत्पन्न होता था जो वीरों को युद्ध की परिस्थितियों में उत्साहित करता था । यह बहुत ही भयङ्कर गर्जना होती थी[१६७] । वाजसनेयि संहिता में व्यवसायिक रूप से धनुष बनाने वालों का भी उल्लेख है । इन्हें धनुष्कार और धनुष्कृत कहा जाता था । इसी प्रकार प्रत्यञ्चा के निर्माण का एक वर्ग था जिसे ज्याकार कहा जाता था[१६८]।

बाण के लिए सामान्य रूप से 'इषु' शब्द का प्रयोग हुआ है[१६९] । यद्यपि शर्य, शार्य एवं बाण ये पर्याय भी प्राप्त होते हैं । ऋग्वेद में एक स्थान पर विषदग्ध अथवा विषैले नोकों वाले बाण का उल्लेख हुआ है । ये अत्यन्त घातक रहे होंगे। इनका सन्धान प्राण हरण करने की इच्छा से किया जाता रहा होगा । इस बाण को 'आलाक्त एवं रुरुशीर्ष्ण्य [१७०] कहते थे । इन बाणों के नोकों पर विषैले शृङ्ग लगाये जाते थे जो सामान्य

बाणों की धातुओं से पृथक होते थे। इन्हें 'आयोमुखम्' भी कहा जाता था। इस प्रकार के बाणों का उल्लेख अथर्ववेद में भी है। बाणों के अन्तिम सिरे पर पक्षियों के पंख लगाये जाते थे जिससे सन्धान काल में बाणों का सन्तुलन बना रहता था। ऐतरेय ब्राह्मण में बाणों के नोक या 'अनीक' के नाम बताये गये हैं जैसे शाल्य, तेजन्[१७१]। ये शाल्य एवं तेजन् बाणों के ऊपरी एवं निचले हिस्से का नाम था। शतपथ ब्राह्मण बाण की लम्बाई तक की चर्चा करता है उसके अनुसार तत्कालीन बाण तीन फीट लम्बे होते थे[१७२]। बाणों को रखने वाले तूणीर को 'इषधी' कहते थे[१७३]।

ऋष्टि

ऋग्वेद में ऋष्टि नामक शस्त्र का उपयोग मरुदगणों द्वारा करते हुये वर्णित किया गया है। मैक्डॉनल एवं कीथ का विचार है[१७४] कि यह आयुध मरुतों के साथ संलग्न बताया गया है। इसलिये यह आयुध न होकर मेघ विद्युत के समान रहा होगा लेकिन यह तर्क सर्वथा असङ्गत है क्योंकि ऋष्टि आयुध का वर्णन बहुतायत में हुआ है। निश्चित ही ऋष्टि हाथ से चलाया जाने वाला बरछे की भाँति एक घातक हथियार था एवं ऋग्वैदिक आर्यों में अत्यधिक लोकप्रिय था[१७५]।

रम्भिणी

ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में ऐसा वर्णन है कि मरुद्गण अपने कन्धों पर रम्भिणी धारण करते थे। निश्चित रूप से यह भी हाथ से चलाये जाने वाला घातक हथियार था[१७६]।

सृक्ति

दशराज्ञ युद्ध के प्रकरण में बरछा प्रकारक एक शस्त्र का प्रयोग दोनों पक्षों द्वारा करते हुये दिखाए गए हैं[१७७]। इसी प्रकार शृक् नाम के शस्त्र के दो उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं एवं इस शस्त्र का प्रयोग इन्द्र करते थे। अतः इस शस्त्र का प्रयोग बलशाली के हाथों ही हुआ करता था[१७८]। इस शस्त्र का वर्णन वाजसनेयि संहिता में भी है[१७९]।

असि (तलवार)

तलवार या असि, आर्य शूर वीरों की पहचान के रूप में जाना जाता है। वेद में इसके लिये असि शब्द का प्रयोग होता था। युद्ध के साथ-साथ इस शस्त्र का प्रयोग बलिकर्म के लिये भी किया जाता था[१८०]।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि विदेशी पुरातत्त्वविद् एवं इतिहासकार पिगट का मानना है कि यह शस्त्र आर्यों की देन नहीं है। उनके अनुसार आर्य तलवार का

ज्ञान नहीं रखते थे। यद्यपि ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक में संगृहीत सामग्रियों एवं निष्कर्षों तक की उपेक्षा कर दी है[१८१]।

वाजसनेयि संहिता के निषंगिन् शब्द का अर्थ महीधर ने असिधारी किया है। इसी अर्थ में यह शब्द काठक, मैत्रायणी संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है[१८२]।

कृष्टि

ऋष्टि की ही भाँति यह ऋग्वेद में मरुतों का शस्त्र[१८३] बतलाया गया है। कृष्टि, कृष् धातु से बना है। अतः संभवतः यह शस्त्र कुछ इस प्रकार बना होता था जिससे शरीर में बहुत गहरा घाव बन जाता था अथवा मांस नुच जाता था। किन्तु भ्रमवश त्सिमर ने इसका अर्थ कुदाल करते हुए ऐसी व्यवस्था देने की चेष्टा की है कि खुदाई में फावड़ों तक का प्रयोग होता था[१८४]।

परशु या कुलिश्

इस शस्त्र का प्रयोग ऋग्वैदिक आर्य लकड़ी काटने या युद्ध करने के लिए समान रूप से करते थे[१८५]।

वज्र

ऋग्वेद के इस शस्त्र पर वी०एम० आप्टे ने १९५६ में एक अत्यन्त सुन्दर लेख लिखा था[१८६]। इनके अनुसार यह शस्त्र आघातक हथोड़े के समान था। ऋग्वेद में इन्द्र को 'वज्रहस्त' कहा गया है। विद्वान् वज्र का अर्थ मेघ के विद्युत से भी जोड़ते हैं किन्तु ऋग्वेद में कहीं भी इन्द्र को विद्युतहस्त नहीं कहा गया है। विद्युत के लिये विद्युत शब्द का प्रयोग ही ऋग्वेद में हुआ है। वज्र एक धातु का बना शस्त्र था जिसका निर्माण अयस् अथवा किसी अन्य धातु से होता था[१८७]। इसका निर्माण त्वष्टा करते थे[१८८]। इस शस्त्र पर प्रलेपन अथवा पॉलिस का भी उल्लेख मिलता है[१८९]। इसके ऊपरी भाग में सहस्रों कोटे जैसे बने होते थे[१९०]। इन्द्र इस शस्त्र को सदैव अपने साथ रखते थे[१९१]। ऋग्वेद के ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जहाँ वर्णन है कि इन्द्र अपने दोनों हाथों में वज्र लिये हुए हैं[१९२]। लेकिन बहुधा ये एक हाथ में ही वज्र धारण करते थे[१९३]। ऋग्वेद के एक प्रसंग में इन्द्र के वज्र को लोहे का बना बताया गया है। 'इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल' (ऋ० ८.९६.३) यह शस्त्र बहुत ही मजबूत एवं बहुत काल तक तीक्ष्ण बना रहता था। इसके लिए ऋग्वेद में स्थविर एवं धर्णसि, शब्द का प्रयोग हुआ है[१९४]।

अद्रि एवं अशनि

ये शस्त्र पत्थर के बने होते थे। अद्रि सम्भवतः सामान्य प्रस्तरखण्ड को कहा जाता था जिसका प्रयोग युद्ध में ऊँचाई से शत्रु पर प्रहार करने के लिए किया जाता था। जिसमें शत्रु सेना प्रस्तरखण्डों से कुचलकर क्षतिग्रस्त हो जाती थी किन्तु अशनि अद्रि की अपेक्षा छोटा एवं विशेष पत्थर से बनता रहा होगा[१९५]।

प्रतिरक्षी आयुध

योद्धाओं के शारीरिक प्रतिरक्षा के लिये सर्वाधिक प्रचलित साधन वर्म था। यह कोट की तरह पहना जाता था। ऋग्वेद में एक सन्दर्भ में कहा गया है कि हे इन्द्र तुम वर्म धारण करने वाले की चारो ओर से रक्षा करते हो[१९६]। सम्भवतः यह चमड़े का बना करता था। ऋग्वेद में वर्णन है कि योद्धा तीखे बाणों से उसी प्रकार धराशायी हो जाते थे जैसे मसक फूट जाता है[१९७]। इसी सन्दर्भ के आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि वर्म चमड़े का बनता रहा होगा किन्तु ऐसा कम सम्भव प्रतीत होता है कि लोहे के बाणों से त्राण पाने के लिए वर्म धातुओं से नहीं बनाये जाते रहे होंगे। जैमनीय ब्राह्मण में अयस् से बने वर्मों का उल्लेख है[१९८]।

कवच

कवच शब्द का प्रयोग अथर्ववेद से प्राप्त होता है। कवच सम्भवतः केवल सीने की रक्षा के लिए धारण किया जाता था[१९९]। वाजसनेयि संहिता में कवचिन् या 'कवचधारी' का उल्लेख है[२००]।

शिप्र या शिरस्त्राण

ऋग्वेद[२०१] के कई स्थलों पर शिरोप्रदेश की रक्षा के लिए शिप्र के प्रयोग का संकेत है। गेल्डनर शिप्र को हेल्मेट की तरह का पहनावा मानते हैं। यह शिरस्त्राण निश्चित रूप से धातु का बना होता था। सामान्य योद्धाओं के लिए यह लोहे आदि धातुओं का बनता था किन्तु विशेष योद्धाओं अथवा राजाओं के लिए सोने से बने शिरस्त्राणों का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अयः शिप्र, हिरण्यशिप्र, हरिशिप्र आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है[२०२]। शिप्र धारण करने वाले के लिये ऋग्वेद[२०३] में शिप्रिन् शब्द का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद में शिप्र शब्द विभिन्न रूपों एवं लिङ्गों में ५२ बार प्रयुक्त हुआ है। शिप्र की व्याख्या विवादास्पद रही है। परम्परागत व्याख्याकारों में स्कन्दस्वामी[२०४] ने इसका एक अर्थ 'शिरस्त्राण' या 'उष्णीष' किया है। यह अर्थ उनके बाद के व्याख्याकारों

माधव,[२०५] वेंकटमाधव[२०६] और आचार्य सायण द्वारा अनुसृत किया गया है । अतः इसका शिरस्त्राण अर्थ ग्रहण किया जा सकता है ।

चक्र

प्राचीन भारत का यह सर्वाधिक लोकप्रिय प्रक्षेप्यास्त्र था । ऋग्वेद में प्राप्त एक वर्णन के अनुसार इन्द्र इस शस्त्र को चलाते थे[२०७] । महाभारत आदि में इस शस्त्र के प्रयोग की निपुणता श्रीकृष्ण को थी ।

अतः उपलब्ध प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जहाँ युद्ध के इतने अस्त्र शस्त्र उपलब्ध थे वहीं पर प्रतिरक्षी आयुधों के रूप में वर्म, कवच, रुक्म, खादि तथा शिप्र का भी विशेष महत्त्व था । इनका आश्रय लेकर अनेक भयङ्कर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध हुये थे ।

ऋग्वैदिक युद्ध

ऋग्वेद में जिन विशेष युद्धों का वर्णन प्राप्त होता है उनमें इन्द्र के साथ शम्बर[२०८] का युद्ध महत्त्वपूर्ण है । इस युद्ध में इन्द्र ने शम्बर के नगरों को नष्ट कर दिया था[२०९]। यही कार्य इन्द्र ने दिवोदास[२१०] की सहायता करते हुए किया था । रूद्र को भी भयंकर युद्ध करते हुये बताया गया है[२११] । युद्ध को वर्णित करते हुए ऋग्वेद में उल्लेख है कि हे इन्द्र और वरुण देव जहाँ योद्धागण ध्वज उठाकर युद्धार्थ मिलते हैं, जिस युद्ध में कुछ भी अनुकूल नहीं होता और जिसमें प्राणी मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग पहुँचते हैं, ऐसे युद्ध में तुम दोनों हमारे पक्ष की बात करना[२१२] । पृथिवी के सम्पूर्ण अन्न सैनिकों द्वारा विनष्ट हो चुके हैं । सैनिकों का कोलाहल द्युलोक में फैल रहा है । हमारी सेना के सारे शत्रु हमारा शरीर ग्रहण कर चुके हैं । हे इन्द्र और वरुण देव । रक्षण के साथ हमारे पास आइये[२१३] । इस तरह की स्तुतियों से तत्कालीन युद्ध की भीषणता का आभास मिलता है जिसमें धन और जन दोनों का नाश होता था । रण भूमि योद्धाओं की पुण्यस्थली बताई गई है जहाँ वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं को पुण्य का अधिकारी कहा गया है । रणभूमि यज्ञभूमि है । जिस तरह सहस्त्र यज्ञ करने वाले यजमान को फल प्राप्त होता है उसी तरह युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धा को भी[२१४]। ऋग्वेद में उल्लिखित 'मायिनम्' शब्द से यह प्रतीत होता है कि उस समय के युद्ध में माया प्रयोग भी होता था[२१५] । युद्ध के समय दुन्दुभि[२१६] शंख, कर्करि, इत्यादि वाद्यों का प्रयोग किया जाता था । संभवतः ये वाद्य युद्ध प्रारम्भ होने के समय बजाये जाते थे ।

इस प्रकार ऋग्वेद कालीन युद्ध में योद्धा प्रतिरक्षी आयुधों को धारण करके धंनुष-बाण इत्यादि अस्त्र शस्त्र के साथ युद्ध करते थे । उस समय की रक्षा प्रणाली अति विकसित प्रतीत होती है ।

सन्दर्भ

१. ऋ० १०.१०८.११
२. ऋ० १.३३.८
३. ऋ० २.२४.६
४. ऋ० १.८६.९, ३.३०.१७
५. अथर्व० २०.२५.४
६. यजु० ८.४४
७. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ५८५
८. अर्थशास्त्र ६.१.१ ।
९. ऋ० दी० भा० १.२५.१, ३१.५, ३५.५, २.१.८, ११.४, २४.१०, ३.६.३, ४.२.३, २४.४, २८.४, ५०.८, ५.८.२ इत्यादि
१०. ऋ० टा०, भा० २, पृष्ठ १२१
११. हिम्स ऋ०, भाग १, पृष्ठ २६०
१२. से० बु० आव् द ईस्ट, भाग ४६, पृष्ठ १८७
१३. डेर ऋ०, भाग १, पृष्ठ १७६
१४. वे०त्सू०ऋ०, पृष्ठ १२९७
१५. से० पी० को०,भाग ६, पृष्ठ १२०५
१६. से०बु० आव् द ईस्ट, भाग ३२, पृष्ठ ५१२
१७. ऋ० ६.१६.९
१८. वही ७.५.२
१९. मैकडौनेल और कीथ, वैदिक इण्डेक्स (अनुवादक-रामकुमार राय), भाग २, वाराणसी, १८६२, पृष्ठ ३०५;६
२०. स० डिक्स:, मैक्डानल, शब्दकल्पद्रुम, आप्टे सं०ई० डिक्स० इत्यादि
२१. ऐ०ब्रा० ८.२६
२२. ऋ० २.१.८, ६.४७.१६, १०.१२४.८, १०.१७३.६
२३. ऋ० ९.११३.७
२४. ऋ० ९.११३.८
२५. ऋ० ४.५०.८
२६. यजु० २०.१
२७. ऋ० १०.९०
२८. वही
२९. शत० ब्रा० १.३.५.६, १३.६.२.१०
३०. ऋ० १०.१७३.१ पर सातवलेकर का अनुवाद

३१. अथर्व० ६.८७.२
३२. अथर्व० ६.१२८.१
३३. ऋ० १०.४२.३
३४. ऋ० १.२५.१०
३५. ऋ० ९.११२.१
३६. जर्नल बाम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम २९, पृष्ठ १२
३७. ऋ० १०.१२४.८
३८. ऋ० ६.२८.६, ८.४.९, १०.३४.६
३९. ऋ० १०.३४.६
४०. वा०सं० ३०.१८
४१. मैक्डौलेल और कीथ, (अनुवादक - रामकुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, १९६२, पृष्ठ ४७१
४२. ऋ० २.२४.१३
४३. ऋ० ४.२.५
४४. ऋ० १.१६७.३
४५. मैक्डौनल और कीथ, (अनुवादक - रामकुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, १९६२, पृष्ठ ४७१
४६. अथर्व० १९.५५.४
४७. ऋ० १.१६७.३
४८. अथर्व० १९.५५.५
४९. ऋ० १.९१.२०
५०. ऋ० ६.२८.६
५१. वही
५२. ऋ० १.१६७.३
५३. अथ० ६.१३.१
५४. विश्पला, घोषा, अपाला, लोपमुद्रा आदि
५५. ऋ० ९.९२.६
५६. ऋ० ७.४३.३
५७. वैदिक राजनीति शास्त्र, पृ० ५२
५८. अथर्व० ७.१४.१
५९. ऋ० ९.९२.६
६०. अथर्व० ८.१०.११
६१. ऋ० १०.१९१.३
६२. ऋ० १०.१६६.४

६३. अथर्व० ६.६४.२
६४. ऋ० १०.१९१.३
६५. ऋ० १०.१७१.१
६६. अथर्व० ३.३.३, ४, ५
६७. मैक्डौनल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स (अनुवादक - रामकुमार राय), वाराणसी, १९६२, पृष्ठ १९९
६८. ऋ० ३.२६.६, २.१.४, ३.३८.५
६९. ऋ०सं०, पंचम भाग, पूना, १९८२
७०. से०पी०को०
७१. ऋ० ३.१.१
७२. ऋ० १.४०.६, ६४.१
७३. ऋ० १.९१.२०
७४. ऋ० ७.९३.३
७५. ऋ० २.३९.१३
७६. ऋ० ३.१.२
७७. डॉ० हरिशङ्कर त्रिपाठी, कवि और कवि कर्म, चाण्डाल कन्या का वंशदण्ड, वेदपीठ प्रकाशन, प्रयाग १९९०, पृष्ठ ४१ से ४५
७८. ऋ० १०.९०.१२
७९. ऋ० १.१००.१, १.१७.१, १.१८१.२, १.५३.९, २.२८.९, १.१८८.५, यजु० ९.४०, ९.३०
८०. मनुस्मृति ७.१
८१. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, दूसरा भाग (हिन्दी रूपान्तर), पृष्ठ ५९४
८२. अथर्व० ३.५.६, ७
८३. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१
८४. नि० २.१२
८५. ऐ० ब्रा० ८.५.२७
८६. ऋ० १.४४.११, ४५.७, ३.११.१, ८.४४.६, १०.७०.७
८७. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Bombay, 1981, p. 719
८८. ऋ० ७.२०.५
८९. ऋ० ५.५४.८
९०. ऋ० १०.२७.१९, १०.१४६.१, १०.१४९.४
९१. ऋ० २.१२.७
९२. ऋ० १०.१२७.५

९३. ऋ० १.११४.१

९४. ऋ० १.१००.१०

९५. ऋ० १०.९०.८

९६. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Bombay, 1981, p. 279

९७. ऋ० १०.१०७.५ पर सातवलेकर का हिन्दी अनुवाद

९८. अथर्व० ३.५.२

९९. अर्थशास्त्र १.७.१०

१००. महाभारत, शान्तिपर्व,

१०१. ऋ० ७.६.५

१०२. ऋ० १०.१७३.६

१०३. ऋ० ८.१००.९

१०४. ऋ० ५.१.१०

१०५. ऋ० ५.१.१०

१०६. ऋ० ७.८२.६

१०७. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Bombay, 1981, p. 647

१०८. ऋ० ७.८२.६ पर हिन्दी अनुवाद सातवलेकर कृत १०९. ऋ० ७.५५.२, २.२३.१६, ९.३२.५, ९.३८.४

११०. ऋ० १०.१०३.१

१११. ऋ० १०.१०३.८

११२. ऋ० १०.१०३.७

११३. ऋ० १.६४.७

११४. ऋ० ४.४.१

११५. यजु० २४.३०

११६. अथर्व० ३.२२.१

११७. अथर्व० ३.२२.६

११८. ऋ० १.१६३.३

११९. ऋ० ९.९६.१५

१२०. ऋ० १.७३.९

१२१. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Bombay, 1981, p. 115

१२२. ऋ० १०.१०७.२

१२३. ऋ० ८.२१.३

१२४. ऋ० ८.४६.१०
१२५. ऋ० ५.६२.७
१२६. ऋ० ६.२८.४
१२७. ऋ० १.८२.१
१२८. ऋ० १.१८३.१
१२९. ऋ० १.१४१.९
१३०. ऋ० ६.२४.३
१३१. यजु० ३०.६
१३२. ऋ० ५.५६.६
१३३. ऋ० १.७७.३
१३४. ऋ० १.२५.३
१३५. ऋ० १.८४.६
१३६. ऋ० ५.३०.९
१३७. वही, सातवलेकर कृत अंनुवाद
१३८. ऋ० ५.३०.९
१३९. ऋ० १०.२७.१०
१४०. ऋ० १.७३.५
१४१. ऋ० १.७३.५
१४२. ऋ० ३.३०.६
१४३. ऋ० ६.५२.२, ३.५३.१४
१४४. ऋ० ६.७५.११
१४५. ऋ० ६.७५.५
१४६. ऋ० १.८४.१३
१४७. ऋ० १.८५.९
१४८. ऋ० १.३२.१२ एवं यजु० १८.७
१४९. यजु० १५.१५
१५०. ऋ० ७.८८.७
१५१. ऋ० १०.८६.१८
१५२. ऋ० १.१२७.३
१५३. ऋ० १.१६८.४
१५४. ऋ० १.१६८.३
१५५. ऋ० ५.५७.२
१५६. ऋ० ८.४.१६
१५७. ऋ० १.१६२.११

१५८. ऋ० ७.३३.६
१५९. ऋ० १.७२.२
१६०. ऋ० ६.७५
१६१. ऋ० ६.७५.३, १०.५१.६, ४.२७.३ आदि
१६२. ऋ० ८.७२.९, ७.११, ९.९९.१, १०.१२५.६ आदि
१६३. अथर्व० ४.६.४
१६४. ऋ० १०.१६६.३, अथ० ४.४२.१
१६५. वा० सं० १६.२२
१६६. ऋ० २.२४.८
१६७. ऋ० ६.७५.३ एवं अथ० ५.२१.९
१६८. वा०सं० ३०.७ एवं २६.४६
१६९. ऋ० २.२४.८, ८.७.४ अथ० १.१३.४ एवं ११
१७०. ऋ० ६.७५.१५
१७१. ऐत०ब्रा० १.२५
१७२. शत० ६.५.२.१०
१७३. ऋ० १.३३.३, ६.७५.५ एवं १०.९५.३
१७४. ऋ० १.३१.१, ३७.१; २, ६४.४, ८.११, ८५.४, ८८.१, १६६.४, ५.५२.६
१७५. वैदिक माइथोलाँजी, पृष्ठ ७९, वैदिक इण्डेक्स, पृष्ठ ११८
१७६. ऋ० १.१६८.३
१७७. ऋ० ७.१८.१७
१७८. ऋ० १.३२.१२, १०.१८०.२
१७९. वा०सं० २६.२१
१८०. ऋ० १.१६२.२०, १०.७९.६, ८६.१८
१८१. Piggot Stavrt, *Pre-historic India*, Harmondsworth, 1950, p. 279,
१८२. वा०सं० २६.२०, का०सं० २७.१२, ३६.११
मै०सं० २.९.३, तै०सं० ४.५.३, श०ब्रा० १३.४.२.५
१८३. ऋ० १.१६८.३
१८४. *Alt Indisehes Lebon*, p. 30.
श्रोडर, प्री हिस्टारिक एटीक्विटी, पृष्ठ २२
१८५. ऋ० ३.२.१, १.३२.५
१८६. वज्र इन ऋग्वेद, ए०बी० ओ० आर० आई०, वाल्यूम ३६, १९५६, पृष्ठ २९१
१८७. ऋ० १.५२.८, ८०.१२, ८१.४, ८.९६.३, १०.९६.३, १०.११३.५ आदि
१८८. ऋ० १.३२.२, ५०.२, ४२.७, १३०.४, १०.४८.३
१८९. ऋ० १.५५.१, ८.५७.७, १०.१५३.४ आदि

१९०. ऋ० १.८०.६, ८.६.६, ७.२, ७९.३ आदि
१९१. ऋ० १.३५.१०, ६.२१.७
१९२. ऋ० १.५१.७, ५२.८, ६३.२, २.११.४, ६.१७.६, २०.८, ३.४४.४, ४.२२.३, ६.२३.१, ८.६१.१८ आदि
१९३. ऋ० ६.२०.९, ७.२८.२
१९४. ऋ० ४.२०.६, ८.६.१४
१९५. ऋ० १.५१.३, ६.६.५
१९६. वर्मेषु स्यूतम् परिपासि विश्वतः । ऋ० १.३१.१५
१९७. ऋ० ६.२७.६
१९८. जैमनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४.१.३
१९९. अथ० ११.१०.२२
२००. वा०सं० १६.४५
२०१. ऋ० ५.५४.११, ८.७.२५
२०२. ऋ० ४.३७.४, २.३४.३, १०.४६.४ आदि
२०३. ऋ० १.२९.२, ८१.४ एवं ६.४४.१४
२०४. ऋग्वेद भाष्यम् ६.४६.५, अडयार लाइब्रेरी मद्रास, १९३५
२०५. (माधव कृत) ऋग्वेद व्याख्या, मद्रास १९३९
२०६. डॉ० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सम्पादित, ऋगर्थदीपिका, ४ भाग, लाहोर, १९३९, विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, ऋग्वेद संहिता ६ भाग, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६४
२०७. ऋ० ६.४४.१४
२०८. ऋ० २.१४.६
२०९. ऋ० २.१४.७
२१०. ऋ० २.१९.१२
२११. ऋ० १.११४.७
२१२. ऋ० ७.८३.२
२१३. ऋ० ७.८३.३
२१४. ऋ० १०.१५४.३
२१५. ऋ० ५.५८.२, ६.४८.१४ अथर्व० ३.२.२; ६
२१६. ऋ० ६.४७.२९-३०, १.२८.५

* * *

सप्तम अध्याय

ऋग्वैदिक समाज में धर्म और दर्शन

धर्म शब्द 'धृ' धारणे धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है धारण करना। ऋग्वेद में धर्म शब्द विधान अथवा प्रचलन के लिए व्यवहृत नियमित शब्द है[1]। वेद को धर्म का मूल माना गया है 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[2]। महाभारत में धर्म का लक्षण बताते हुये कहा गया है —

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः[3] ॥

धर्म में ही सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है। श्रुति वाक्य है 'धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'। प्रेरणा के विषय को भी धर्म कहा जाता है। इसके लिए मीमांसा में चोदना शब्द का प्रयोग है इस शब्द का अर्थ है - वह वाक्य जो व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है या प्रबोधित करता है। इससे प्रकट होता है कि धर्म के विषय में ज्ञान (प्रमाण) के साधन वैदिक वाक्य हैं और उसका तात्पर्य भी यह है कि चोदना द्वारा जो कुछ विशिष्टता को प्राप्त होता है या प्रकट किया जाता है वह धर्म है अर्थात् उससे धर्म का स्वरूप प्रकट किया जाता है[4]। लेकिन ऐसे कर्म जो अशुभ, कल्याणकारी नहीं है उनको धर्म मानना ठीक नहीं है।

परिणामस्वरूप धर्म का तात्पर्य ऐसा धार्मिक कर्म (याग) जो सर्वोच्च हित साधन करने वाला हो। ऋग्वेद[5] में यज्ञ को प्रथम धर्म कहा गया है। इस तरह से ऋग्वेद में धर्म का अर्थ है 'याग'। यजुर्वेद में कहा गया है— 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। लेकिन ऋग्वैदिक धर्म के सम्बन्ध में दो विचार धाराएँ हैं। कुछ लोगों का मत है कि उस समाज का उद्भव और विकास यज्ञ के विधि विधानों के माध्यम से हुआ और कुछ लोगों के मतानुसार प्राकृतिक उपादानों के भय से उत्पन्न विचारों के माध्यम से हुआ किन्तु ये दोनों विचार असंगत हैं।

ऋग्वैदिक काल के समाज का धर्म प्राकृतिक शक्तियों के नियमित सञ्चालन से उद्भूत सत्य पर आधारित और उन्हीं नियमों को जीवन के विभिन्न रूपों में देखकर एक परम नियामक शक्ति को ही मुख्य मानकर उसी के आदर्शों को विभिन्न रूपों में पालन करने के साथ विकसित हुआ। इस विकास में यज्ञ की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण

रही जिसे उस काल के समाज ने ऋत कहा। ऋग्वैदिक समाज प्रकृति के सान्निध्य में पल्लवित और पुष्पित हुआ। आर्य, अन्तरिक्ष, आकाश और पृथिवी के द्रष्टा थे। इनमें सूर्य, अग्नि, मेघ, जल-वायु आदि अनेक शक्तियों से वे निरन्तर प्रभावित थे। उससे उनके नियामक के प्रति सहज अनुमान उन्हें था और इसी कारण उन्होंने पहले अलग-अलग शक्तियों को अन्य-अन्य देवताओं का सर्जक कहा। यह विचारधारा अनेक रूपों में पल्लवित हुई। इसी के साथ अनेक देवशास्त्रीय कथाओं का विकास हुआ। ऋ०[६] में विष्णु के सन्दर्भ में उल्लेख है कि न दबने वाला, सबका रक्षक विष्णु सब धर्मों को धारण करता हुआ यहाँ से तीन पाद रखने का विक्रम करता है। ऋग्वेद[७] में द्यु स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथिवी स्थानीय देवताओं की स्तुतियाँ है। ऋग्वैदिक समाज का सम्पूर्ण धर्म इन्हीं पर आधारित था। प्रत्येक देवता किसी न किसी प्राकृतिक शक्ति का दैवीकरण है किन्तु वह उस प्राकृतिक शक्ति का रूप होते हुये भी स्वतन्त्रसत्ता वाला प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण, सूर्य, रुद्र, अग्नि, सोम, अश्विनौ, वायु, मरुत्, पर्जन्य, आदि देवता अलग-अलग सत्ता के साथ प्रतिष्ठित हैं। ये देवता जहाँ एक ओर प्राकृतिक रूप में वर्णित हैं वहीं उनका स्वर्गीय शरीर गृह कर्म आदि मानवीकरण रूप भी प्रदान करता है। परिणामस्वरूप देवता नैतिकता के प्रतिमूर्ति के रूप में स्वीकार किये गये। उनका कर्म ही ऋग्वैदिक समाज का धर्म बन गया। उनकी उदात्त भावनाएँ मानव को बल प्रदान करने लगीं।

यज्ञ

यज्ञ शब्द की निष्पत्ति यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातु से यजयाचयत विच्छप्रच्छरक्षो नङ् सूत्र के संयोग से हुआ है। यज्ञ् धातु के बह्वर्थक होने से यज्ञ शब्द अपने अन्तर्गत जुड़े हुये विभिन्न अर्थों और उनके विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं का बोध कराता है। यज्ञ ही विराट् पुरुष का स्वरूप है[९]। ऋग्वेद[१०] के अनेक सन्दर्भों में यज्ञ शब्द से सम्बन्धित तथ्यों को सङ्कलित कर यदि हम यज्ञ की दार्शनिक पृष्ठभूमि को विवेचित करें तो उसके अन्तर्गत निहित सातत्य और परिवर्तन की परम्पराओं को देखा जा सकता है।

जिस महत् सत्य को हम ऋत के रूप में ब्रह्माण्ड में देखते हैं उसी को यज्ञ रूप में पृथिवी पर उपस्थित पाते हैं। इसलिये यज्ञप्रक्रिया को ऋत के पर्याय या अनुकृति के रूप में देखा जा सकता है। अतः यज्ञ की मूल अवधारणा उस परम सत्य या ऋत के साथ जुड़ी हुई है।

ऋग्वेद में यज्ञ सम्बन्धी अनेक उल्लेख इस बात के प्रमाण है कि उस काल में यज्ञ संस्था पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। यज्ञ के अध्वर[११] मख[१२] सव[१३] क्रतु[१४]

इष्टि[१५] सप्ततन्तु[१६] संवत्सर[१७] आदि पर्याय भी ऋग्वेद काल में पूर्ण विकसित यज्ञ संस्था के द्योतक है। यज्ञ संस्था से जुड़े ऋत्विक् को ऋत्विक्[१८] और पुरोहित[१९] दोनों नामों से सम्बोधित किया गया है। अग्नि को यज्ञों में ऋत्विक् कहा गया है और उसी के साथ वह ऋतस्य गोपा भी है[२०]। ऋत्विकों के अन्तर्गत होतृ, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन तीनों का ही ऋग्वैदिक समाज में प्रमुख स्थान था। ऋग्वेद में उद्गातृ का भी सन्दर्भ आया है[२१]। यहाँ सामगायक के रूप में उसका वर्णन है यद्यपि सामन् का प्रयोग ऋग्वेद में कई बार आया है लेकिन 'सामगान्' का सन्दर्भ केवल यहीं प्राप्त होता है। यहाँ कहा गया है — हे शकुन। उद्गाता के समान तुम सामगान करते हो और ब्रह्मा पुत्र के समान शासन करते हो।

होतृ, अध्वर्यु और ब्रह्मा के क्रमशः एक-एक सहायक प्रशास्ता, नेतृ और पोतृ के विषय में भी उल्लेख मिलता है[२२]। अवान्तर काल में वर्णित होतृ के सहायक 'मैत्रावरुण' शब्द का प्रयोग सप्तम मण्डल में वशिष्ठ के नाम गोत्र के साथ केवल एक बार हुआ है[२३]। जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् का विकास वशिष्ठ गोत्र के साथ हुआ और इसी को प्रशास्ता कहा जाने लगा। प्रशास्ता का प्रयोग भी ऋग्वेद में कम हुआ है। अहष्यु मुख्य ऋत्विक् के रूप में है। ब्रह्मा नामक ऋत्विक की चर्चा बहुधा हुई है। ब्रह्मा का दूसरा सहायक पोतृ है। ऋग्वेद काल में होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा यही तीन ऋत्विक् थे और तीनों के एक-एक सहायक होते थे। होता और अध्वर्यु सम्पूर्ण यज्ञ को शासित करते हैं। अध्वर्यु का कार्य देव आह्वान है। अग्नि समस्त देवों के लिये हविग्रहण करके उन तक पहुँचाता है या वहन करता है इसीलिये उसे वह्नि[२४] कहा गया है। हविग्रहण करके वह एक प्रकार से देवताओं का आह्वान करता है अतः वह होता भी है[२५]। मुख्य यज्ञीय कर्मों का सम्पादन अध्वर्यु द्वारा होता है।

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिहिंसाकर्मणः तत्प्रतिषेधः[२६]।

'अध्वर्यु' शब्द नञ् समास पूर्वक ध्वृ धातु से सुच् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। देवताओं में मुख्य अथवा उनके प्रतिनिधि रूप अग्नि को स्थान-स्थान पर अध्वर्यु के रूप में आहूत किया गया है[२७]। होतृ पद के हू धातु से निष्पन्न होने से उसके देवाह्वान कर्म का सङ्केत मिलता है।

ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद से होते हुये भी यह अन्य वेदों का ज्ञाता होता है। यज्ञ कर्मों का निरीक्षण करना इसका प्रधान कार्य होता है[२८]। ब्रह्मा के अतिरिक्त उद्गाता भी मुख्य ऋत्विक् है[२९]। सामगान करना ही इसका मुख्य कार्य है।

ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता आदि ऋत्विक् अग्नि, अङ्गिरा, सोम आदि का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह विभिन्न ऋत्विकों के साथ अग्नि का सम्बन्ध है[३०]।

प्रजापति से भिन्न और कोई देव सृष्टि के आरम्भ में नहीं था इसलिये प्रजापति और यज्ञ का तादात्म्य अवश्यमभावी है। तै०ब्रा०[३१] में कहा गया है 'यज्ञो वै प्रजापतिः' प्रजापति ही यज्ञ है।

हिरण्यगर्भ और वाक् से सम्पृक्त धारणा का विकास हमें पुरुष सूक्त में मिलता है जहाँ सहस्रशीर्षा पुरुष को ही परमात्मा मानकर सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है[३२]। पुरुष को भी यज्ञीय पशु बनाने और उसी से यज्ञ विस्तार आदि की बातें यहाँ निहित हैं। यहाँ कहा गया है — उसकी (यज्ञ पुरुष) सात परिधियाँ थीं और इक्कीस समिधाएँ थीं, तब देवताओं ने यज्ञ का विस्तार करते हुये पुरुष रूपी पशु को बाँधा[३३]। इसी सूक्त के अन्तिम ऋचा में कहा गया है —

यज्ञेनं यज्ञमंयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यांसन्।
ते ह नाकं महिमानंः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिं देवाः॥

ऋ० १०.९०.१६

अर्थात् देवताओं ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का यजन किया और उनकी महिमा उस स्वर्ग को प्राप्त हुई जहाँ पर साध्य देवतागण पहले से ही वर्तमान हैं। यहाँ पर 'धर्म' का अर्थ कर्म है। सृष्टि का प्रथम कर्म 'यज्ञ सम्पादन' था जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यही सन्दर्भ ऋ० १.१६४.५० में भी आया है।

यज्ञ में मन्त्रात्मिका वाणी का प्रयोग अनिवार्य है। अतः वाह्यरूप से देखने पर यज्ञ तो केवल किसी देवता विशेष के लिए द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप है, परन्तु यह विलक्षण रहस्य से संचालित है। जिस कर्म से देह शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि, अहंकार शुद्धि और चित्त शुद्धि होती है, जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं परार्थ होता है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता, प्रत्युत पहिले का आवरण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमशः कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता है और अन्त में महाज्ञान तक प्राप्त कराता है — वही यज्ञ है[३४]।

स्तुति

'ऋच्यते स्तूयतेऽनया सा ऋक्' जिसके द्वारा स्तुति या प्रशंसा की जाय उसे ऋक् कहते हैं। 'या तेनोच्यते सा देवता' जिसके विषय में कहा जाता है वही उस स्तुति का देवता होता है। ऋग्वैदिक आर्यों ने विभिन्न प्राकृतिक उपादानों को लक्ष्य करके उनकी स्तुतियाँ की। यह उनकी सबसे सरल, सुबोध तथा सुविधा जनक पूजन पद्धति थी।

प्राचीन ऋषियों के पास वैदिक ऋचाओं के साक्षात्कार के मुख्य दो साधन थे— श्रवण और दर्शन । श्रवण के कारण वैदिक ऋचाएँ श्रुति कहलाती हैं । उन ऋषियों, परमर्षियों और महर्षियों ने आदि गुरू परब्रह्म परमात्मा से वैदिक मन्त्रों का श्रवण किया था । आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से कहा जाय तो यह कि मन्द्रजिह्व परमात्मा से उच्चरित वेदध्वनि समस्त ब्रह्माण्ड में प्रतिध्वनित होती रहती है । हमारे ऋषियों ने तपस्या द्वारा अपने श्रोत्रों में दिव्यता भरकर ब्रह्माण्ड में गूँजती हुई वैदिक ऋचाओं का श्रवण किया। तभी से श्रवण प्राप्त ऋचाएँ श्रुति कहीं जाने लगी[३५] । ये श्रुतियाँ प्रत्येक देवता के लिये अलग-अलग थी जो उन्हें प्रसन्न करने के लिये स्तवन के साथ उच्चरित की जाती थी । केवल इन्द्र की ही स्तुति में २५० सूक्त ऋग्वेद में हैं । उस समय के समाज में ऐसा वर्ग था जो इस परम्परा पर विश्वास रखता था तथा इसी का अनुकरण करता था । उसके जीवन में स्तुति अन्य उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

विनियोग

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सहस्त्रों वर्षों से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का केन्द्र यज्ञ ही रहा है । कुम्हार की धुरी की तरह समाज की सभी उपलब्धियाँ यज्ञ रूपी धुरी के चारों और घूमती रही । ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसका नेतृत्व किया । इसकी उपयोगिता इतनी बढ़ गई कि यज्ञ से सम्बन्ध न रखने वाला वाङ्मय अनर्थक समझा जाने लगा ।

उस काल के लोगों ने मन्त्रों के रहस्य को समझकर यज्ञप्रक्रिया सिद्ध्यर्थ विनियोगों का प्रारम्भ किया । इसमें कभी-कभी मन्त्रार्थ से असम्बद्ध विनियोगों का भी विकास हुआ । विनियोग का लक्षण है— 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदतीति' अर्थात् यज्ञ में जो कर्म किये जाएँ उनमें विनियुक्त मन्त्र भी उसी क्रिया का कथन करें, वह विनियोग उचित होता है एवं जो मन्त्र स्वसम्बद्ध कर्म का कथन न करे वह विनियोग काल्पनिक होता है । वह अपने प्रमाण से ही स्वीकार किया जा सकता है ।

निरुक्त ७.१० में अग्नि देवता वाले (गायत्री छन्द में) मन्त्र जातवेदा: के स्थान पर विनियुक्त का सन्दर्भ मिलता है वहाँ कहा गया है — तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते ॥ इसी तरह निरूक्त १२.४० में कहा गया है —

तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणि: ॥

अर्थात् आचार्य शाकपूणि का मत है कि एक ही विश्वेदेवः देवतावाला, गायत्री छन्दवाला, तीन ऋचाओं का समूह ऋग्वेद में है। किन्तु जो कोई बहुदेवता वाला गायत्री छन्द वाला प्रकरण है वह विश्वेदेवाः देवता वालों के स्थान में प्रयुक्त किया जाता है[३६]।

उपर्युक्त निरुक्त वचनों के आधार पर विनियोग के सम्बन्ध में दो धारणायें विकसित होती हैं। एक तो मन्त्र के देवता के अनुसार उनका प्रयोग और दूसरे असम्बद्ध मन्त्रों को उसी प्रयोजन के लिये विनियोग। इस तरह के प्रयुक्त विनियोग कल्पना पर आधारित होते हैं। जातवेदस् एवं अग्नि में समानता के आधार पर विनियोग किया जाता है लेकिन विनियोग की परम्परा का विकास इतने तीव्र गति से हुआ कि मन्त्र का विषय कुछ और है और प्रयोक्ता का प्रयोजन कुछ और।

विनियोग शब्द का शाब्दिक अर्थ है (मन्त्र को) कार्य विशेष के लिये लगाना। प्रयोग कर्त्ता जिस किसी प्रयोजन के लिये अथवा जब कोई प्रयोग करे, तब उस प्रयोजन के लिये तथा उस कार्य के लिये जो सूक्त और मन्त्र निर्धारित हैं उन सूक्तों या मन्त्र के ऋषि, देवता एवं छन्द, के साथ क्रियमाण कर्म के लिये विनियोग किया जाता है।

यहाँ ऋषि का अभिप्राय मन्त्र या सूक्त के द्रष्टा ऋषि से है तथा मन्त्र के विषय का सार है, मन्त्र की जीवनी शक्ति है उसका देवता। प्रत्येक सूक्त या मन्त्र के ऋषि और देवता होते हैं। विनियोग में इनका प्रयोग करने से मन्त्र जाग्रत हो जाते हैं। मन्त्र का परिवेश छन्द होता है अतः इसका प्रयोग ऋषि देवता के बाद अभीष्ट है।

अतः विनियोग में ऋषि, देवता और छन्द के उल्लेख की अनिवार्यता को स्वीकार कर, प्रयोजनकर्ता ने अपने अभीष्ट प्रयोजन को उसके साथ सम्बद्ध किया। इस तरह मन्त्र अथवा सूक्त का विनियोग विभिन्न प्रकार से होने लगा।

ऋग्वेदीय मन्त्र - विनियोग

ऋग्वेद काल में यज्ञ हुआ करते थे और उन यज्ञों में मंत्रों का प्रयोग भी होता था[३७]।

स होता यस्य रोदसी चिदुर्वी यज्ञंयज्ञमभि वृधे गृणीतः (ऋ० ३.६.१०)

ऋग्वेद २.१.२ में पोता, होता, नेष्टा, अग्निथ, प्रशास्ता, अध्वर्यु, और ब्रह्मा - इन सात यज्ञीय पुरोहितों के नाम का उल्लेख है। अन्यत्र ऋग्वेद में[३८] होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन चार प्रमुख पुरोहितों के कार्यों का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ में होता ऋचाओं का पाठ करता था और उद्गाता सामगान किया करता था।

'स होता यस्य रोदसी आदि ऋग्वेदीय मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि होता का कर्म प्रत्येक यज्ञ में (यज्ञं यज्ञम्) मन्त्रों का उच्चारण (गृणीतः) था। कालान्तर में केवल

ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण होता के लिये निर्धारित कर दिया गया। यास्क भी यह स्वीकार करते हैं कि संहिताओं के मन्त्र स्वयं अपने विनियोग की बात करते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य गोपथ ब्राह्मण[३९] का प्रसङ्ग उद्धृत करते हैं जिसका तात्पर्य हैं— 'निश्चय ही यह यज्ञ की पूर्णता है कि उसके समृद्ध रूप की पूर्णता अर्थात् उसमें किये जाने वाले कर्म का सङ्केत ऋग्वेद और यजुर्वेद का मन्त्र ही कर देता है ।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति ॥
निरूक्त १.१६

आपस्तम्ब गृह्य सूत्र के अनुसार[४०] गृह प्रवेश के अवसर पर वर-वधू द्वारा अर्पित की जाने वाली आहुतियों में इसका विनियोग है ।

श्रौतयज्ञों में मन्त्र विनियोग की यह परम्परा परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों और सूक्तों में निर्बाध चलती है । यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद के सारे मन्त्र मूल रूप में यज्ञों में विनियोग के लिये थे अथवा श्रौत यज्ञों के विकास के कारण परवर्ती काल में यज्ञों में मन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा । यद्यपि भाष्यकार सायण ने ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग दिखाया है तथापि ऋग्वेद के मन्त्र इस बात की पुष्टि नहीं करते । ऋग्वेद के मन्त्रों का क्रम भी इस बात को पुष्ट करता है कि उनका संकलन यज्ञकर्म के उद्देश्य से नहीं हुआ है क्योंकि मन्त्रों का क्रम किसी भी यज्ञ कर्म के अनुकूल नहीं है ।

विद्वानों ने ऋग्वैदिक मन्त्रों का विनियोग गृह्यकर्मों के सन्दर्भ में, पाँच प्रकार का वर्गीकरण किया है किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों का सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन करने से इस प्रकार के मन्त्रों के वर्गीकरण का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि मन्त्र यज्ञकर्मों में विनियुक्त देखा जाता है और इस प्रकार का वर्गीकरण गृह्यसूत्रों की रचना से बहुत पूर्व इन मन्त्रों के विनियोग को भी दृष्टिगत नहीं करता । उदाहरणार्थ — ऋग्वेद ८.१०१.१५ के माता रूद्राणां इत्यादि मन्त्र को आप्टे ने संस्कार वर्ग में रखा है । परन्तु इसके अर्थ और ऋग्वेद में इसके प्रसङ्ग से मात्र उस मधुपर्क के साथ इस सम्बन्ध का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता, जहाँ गृह्य सूत्रों में इसका विनियोग हुआ है । ऋग्वेद में उस स्थान में सामान्यतया 'गौ' को न मारने की बात कही गई है । आगामी मन्त्र (८.१०१.१६) में स्पष्ट रूप से वाणी की स्तुति की गई है जिससे यह सङ्केत प्राप्त होता है कि पहला मन्त्र भी गाय नहीं 'वाणी' से सम्बद्ध है । तैत्तरीय आरण्यक (६.१२.१) में यद्यपि गौ को मुक्त करने के अवसर पर ही इसका विनियोग किया गया है तथापि यहाँ भी प्रसङ्ग मधुपर्क का नहीं दाहकर्म का है । केवल इस आधार

पर कि मंत्र का देवता गौ है हम संस्कार वर्ग में इसका वर्गीकरण नहीं कर सकते। इस प्रकार ऋग्वेद १०.६३.१० से सूत्रमाणं पृथिवीम् मन्त्र को भी किसी वर्ग विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध नौकारोहण से है। सूत्रमाणं पृथिवीम् इत्यादि मंत्र का विनियोग नौकारोहण कर्म में केवल नावम् शब्द के आधार पर उठाते हैं। इस प्रकार के उद्धरणों से प्रकट होता है कि वैदिक मन्त्रों के अर्थ अति प्राचीनकाल से अस्फुट होने लगे थे जैसा कि यास्क ने लिखा भी है—

स्थाणुरयं भार-हारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत पाप्मा ॥

कर्म एवं पुनर्जन्म

ऋग्वेद[४१] में पूर्वजन्मों के कर्म का उल्लेख है। वहाँ सन्दर्भ आया है - 'मैं मनु हुआ हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि हूँ। मैंने अर्जुनी के पुत्र कुत्स को समर्थ किया है। मैं दूरदर्शी उशना ऋषि हूँ मुझे देखो'। वर्तमान जन्म में कष्ट पाने वाले प्रायः पूर्व जन्म में दुष्कृत्य करते थे जिन्हें अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इनके विषय में ऋग्वेद[४२] में उल्लेख है — 'हे वरुण ! वह अपना निज बल पाप के लिए कारण नहीं होता, प्रगति में रूकावट होने से पाप में प्रवृत्ति होती है, मद्य, शराब, क्रोध, द्यूत, अज्ञान, चित्त लगाकर कार्य न करने की प्रवृत्तियाँ पाप में प्रवृत्ति करने वाली हैं'। इन कर्मों से छुटकारा पाने के लिये लोग देवताओं की स्तुतियाँ करते हैं। ऋग्वेद[४३] के अनेक मन्त्रों में सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों का उल्लेख हुआ है। अच्छे कर्म करने वाले देवयान से ब्रह्म लोक को जाते थे[४४]। तथा दुष्कृत्य करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक को[४५]।

ऋग्वैदिक धार्मिक प्रवृत्तियों में पुनर्जन्म का स्थान था। इस तरह के सन्दर्भ ऋग्वेद में आये हैं[४६] जहाँ कहा गया है कि शीघ्र गति से गमन करने वाला तथा श्वसन करने वाला यह जीव निकल जाता है और यह शरीर गृह में निश्चल पड़ा रहता है। मरे हुये का मर्त्य के साथ रहने वाला अविनाशी आत्मा अपनी धारण शक्तियों से युक्त होकर घूमता रहता है। एक अन्य मन्त्र में गर्भ के अन्दर रहकर देवों के सभी जन्मों को जानने का सङ्केत है[४७]। यज्ञ के सन्दर्भ में कहा गया है कि यज्ञ का फल पुनर्जन्म के बाद ही यज्ञकर्त्ता को प्राप्त होता है। वह जन्म लेकर पूर्व जन्मों के शुभकर्मों का फल भोगता है।

वनिस्पतियों के रूप में भी पुनर्जन्म का उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा गया है[४८]- जो अमूढ़ और ज्ञानी, अदिति और तेजस्वी, उत्तम सखा और पूज्य हमारे लिये शुभकारी विशेष तेजस्वी उषाओं के अग्रभाग में प्रकाशित होता है, वह जलों का उत्पादक

औषधियों के अन्दर प्रविष्ट हुआ। इसी तरह पर्जन्य[४९] के सम्बन्ध में कहा गया है कि– वह पर्जन्य अनन्त औषधियों में वीर्यबल रखने वाला महाबलवान देव है। इसलिये उसमें जङ्गम और स्थावर की आत्मा निवास करती है। ऋग्वैदिक समाज में इस तरह के विचारों को बहुत बल मिला। इस तरह कर्म एवं पुनर्जन्म के साथ ही स्वर्ग एवं नरक की कल्पना की गयी। सुकृत करने वाले व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा दुष्कृत करने वाले व्यक्ति को नरक की प्राप्ति। इस विषय में एक स्थल पर कहा गया है कि बन्धु बान्धवों से रहित स्त्री जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती है उसी प्रकार कुमार्ग पर चलने वाली अथवा पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार दुराचारिणी हो जाती हैं उसी प्रकार दुराचारी अर्थात् नैतिक नियमों का उल्लघन करने वाले, असत्य बोलने वाले पापियों ने इस अगाध नरक स्थान को उत्पन्न किया है। इस तरह के अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं[५०]।

अत: कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेष्ट था क्योंकि पुनर्जन्म की भावना से वह सुकृत करने के लिये बाध्य था। इस तरह पुनर्जन्म का सिद्धान्त का, कर्म के साथ अटूट सम्बन्ध था।

पितर एवं पितृलोक

ऋग्वेद में पितर से सम्बन्धित दशम मण्डल में दो सूक्त कहे गये हैं। पितरों के अनेक गण होते हैं जो पितर पृथिवी पर हैं वे उन्नत स्थान को प्राप्त करें, जो पितर स्वर्ग में उच्च स्थान पर हैं — वे उच्च स्थान को (पद को) प्राप्त करें। सोमपायी, सत्यस्वरूप केवल प्राण रूप और शत्रुरहित जो पितर हैं वे पितर यज्ञ काल में हमारी रक्षा करें (ऋ० १०.१५.१)।

यहाँ पितरों के विभिन्न वर्ग का बोध होता है। अवर, पर तथा मध्यम। ऋग्वेद में पितरों से रक्षा तथा कल्याणमय जीवन की कामना की गयी है। अग्नि को सभी पितरों को जानने वाला कहा गया है। पितरों के वर्गीकरण के आधार पर अग्निहोत्र को जानने वाले, ऋचाओं से स्तुति करते हैं और देवत्व की प्राप्ति कर चुके हैं। उनको प्राप्त होकर वे धन आदि की इच्छा करते हैं, उन अर्चनीय, ज्ञानी, सत्यवादी, बुद्धिमान, तेजस्वी, यज्ञस्थ पितरों के साथ अग्नि देव का आह्वान किया गया है[५१]।

पितरों का सम्बन्ध इन्द्र के साथ भी आता है[५२]। प्रजापति और विश्वेदेवों का उल्लेख पितरों के साथ किया गया है[५३]। यम को पितरों का राजा कहा गया है[५४] तथा इन्हें पाप-पुण्य को जानने वाला भी कहा गया है[५५]। अङ्गिरस, अथर्वण, नवग्वा, भृगु, वशिष्ठ आदि पितरों के नाम का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है[५६]। ऋ० १०.१४.१० एवं

११ में कहा गया है कि हे मनुष्य, चार आँखों वाले और विचित्र चर्मवाले जो दो कुत्ते हैं, इनके पास से तथा उत्तम मार्ग से तुम चले जाओं। तुम्हें उत्तम पितृ लोक प्राप्त हो जहाँ कि पितर के साथ यम आनन्दित होते हैं। पितरों को सृष्टि रूपी यज्ञ को बुनने वाला कहा गया है । जो यज्ञ भूतादि तन्तुओं के द्वारा चारों और फैलाया गया है तथा जो देवों के कर्मों के कारण सौ वर्ष तक रहने वाला है । इस सृष्टि रूपी यज्ञ के वस्त्र को ये पितर जिन्होंने इसे व्याप्त कर रखा है, बुनते हैं और उत्कृष्ट बुनो, निकृष्ट बुनों इस प्रकार कहते हुये इस विस्तृत लोक में रहते हैं[५७] ।

मानव शरीर एक प्रकार आयु सूत्रात्मक वस्त्र है । पितर ही प्राणों का ताना बाना लगाकर इस शरीरात्मक्र वस्त्र का निर्माण करते हैं । पुण्यात्मा मृतकों को पितृ कहते हैं । पितृ शब्द से सामान्यतया आदिम या प्रथम पूर्वज लिए जाते हैं[५८] । जिन्होंने प्रथम मार्ग का अनुगमन किया है । वे ऋषि जिन्होंने उस पथ का निर्माण किया था जिनके पास आज के मृतक उनके पास पहुँचते हैं[५९] । पितरों को विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है[६०] । पितरों की स्तुति में ऋग्वेद में दो सूक्त समर्पित हैं[६१] ।

पितरों में अङ्गिरसों का यम के साथ निकट सम्बन्ध हैं[६२] । अथर्ववेद में अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोक में रहने वाले पितरों का उल्लेख आता है[६३] ।

पितरों को ऋतावा तथा पूर्व्य कवि कहा गया है । वे सत्यमन्त्र हैं और उषा को उन्होंने उत्पन्न किया है । वे अलौकिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । वे उसी रथ पर सवार होते हैं जिस पर कि इन्द्र एवं अन्यदेवता[६४] । वे सोम के प्रेमी हैं और दक्षिण की ओर बर्हि पर बैठकर सोमपान करते हैं । सहस्रों की संख्या में पधार कर वे यज्ञ भूमि में बैठ जाते हैं[६५] । यम प्रथम मानव हैं जिन्होंने मानवों के लिये पितृ लोक में जाने का मार्ग खोज निकाला है ।

यमो न गातुं प्रथमो विवेद — ऋ० १०.१४.२ । यम विवस्वान् के पुत्र होने से वैवस्वत् कहलाते हैं । पितृ लोक के मार्ग में यम के सबल दो कुत्ते रहते हैं जो सरसा के पुत्र, चारनेत्रों वाले, मार्ग के रक्षक तथा मनुष्यों पर पहरा देने वाले हैं । पितृलोक प्रकाशमान देदीप्यमान लोक है जहाँ यम पितृ लोगों के साथ आनन्दित होकर रहते हैं । वह आवास जहाँ पितर और यम निवास करते हैं रजस् के मध्य स्थित है । वह सर्वोच्च आकाश में है[६७] । तृतीय स्वर्ग में है और आकाश के अन्तरतम में है जहाँ कि शाश्वत प्रकाश प्रकाशित रहता है[६७] । पितरों का यह आवास सूर्य का उच्चतम पद है जहाँ अजस्र ज्योति है और जहाँ प्रकाश खिला रहता है । अश्वों के दाता पितर सूर्य के साथ रहते हैं[६८] सहस्रनयन कवि सूर्य की रक्षा करते हैं[६९] । सूर्य रश्मियों के द्वारा पितर लोग सह प्राप्तव्य स्थान को जाते हैं[७०] ।

शुद्ध एवं अशुद्ध कृत्य

शुद्ध एवं अशुद्ध, अच्छे और बुरे की अवधारणा आधुनिक समाज शास्त्र का एक जटिल प्रश्न है। अच्छे और बुरे की विरोधी प्रवृत्ति सभी धर्मों में मिलती है। जहाँ शुभ है वहाँ अशुभ होगा, दोनों एक दूसरे के शाश्वत विरोधी हैं। इन विरोधी प्रवृत्तियों के युग्म हैं — शीत-उष्ण, सुगन्ध-दुर्गन्ध, सुख: दु:ख, देव-दानव, रोग-निरोग, हानि-लाभ, यश-अपयश, आदि। यह द्वन्द्वात्मकता सुकृत और दुष्कृत के मध्य नैतिक धरातल पर उसी तरह से है जैसे भौतिक जगत् में प्रकाश और अन्धकार। मनुष्य द्वारा किये गये अच्छे कर्म या सुकृत ही प्रकाश है, ज्ञान एवं दिव्य है जो मानव को देवोपम बना देते हैं इसलिए ऋग्वेद में देवों की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। सूक्तों में देवताओं के लिए सुकृत: एवं सुक्रतु: विशेषणों का प्रयोग किया गया है[७१]। देवताओं के अतिरिक्त पितरों के लिये भी सुकृत: विशेषण प्रयुक्त हुआ है[७२]। ऋग्वेद में अच्छे कर्म करने वाले को सुकृत कहा गया है[७३]।

दुष्कृत से स्वयं का नाश होता है। दुष्कृत सामाजिक जीवन को नष्ट कर देते हैं और परिणामत: समाज में उथल पुथल प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये विभिन्न मन्त्रों में मन की शुद्धता के लिये प्रार्थना की गयी है - तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु[७४]।

लोक कल्याण का आधार सुकृत ही है। विश्वेदेवा: को प्रस्तुत एक सूक्त में ऋषि वसिष्ठ ने कहा है — 'पुण्यात्माओं के पुण्य हम सबका कल्याण करने वाले हों'[७५]।

ऋग्वेद में जीवन को सुकृत का क्षेत्र माना गया है इसके विपरीत दुष्कर्मी व्यक्ति सत्य पथ से दूर होता जाता है तथा विचारों में विभिन्नता आ जाती है। अलौकिक एवं वैदिक समस्त कृत्यों का उचित ढंग से अनुष्ठान करना सुकृत है। इसके माध्यम से व्यक्ति स्वर्गलोक को गमन करता है[७६]।

निष्कर्ष यह है कि कार्य कारक, एवं परिणाम तीनों ही सुकृत रूप में वर्णित हैं। इन सब कर्मों को करने की भावना जीवन के साथ जुड़ी हुई है जैसे यज्ञ के पीछे कर्म और कर्म के पीछे ब्रह्म है और यही ज्योति है। ज्योति सभी के हृदय में स्थित है किन्तु हम उससे वञ्चित रहते हैं उसका सान्निध्य ही आत्म उत्कर्ष का मार्ग है। पाप कर्म अथवा दुष्कृत्य किसी व्यक्ति की शक्ति का परिणाम नहीं है अपितु धूर्तता, सुरा, क्रोध, द्यूत-क्रीड़ा, प्रमाद इसके मूल कारण हैं[७७]। इसी के साथ तम, रोग, दु:ख आदि को दु:स्वप्न जन्य बुराई के साथ रखा गया है[७८]। इस तरह मन, वाणी, और कर्म यही सुकृत एवं दुष्कृत के कारण हैं। इनकी पवित्रता के लिये प्रार्थनायें की गयी हैं[७९]।

पाप-पुण्य

ऋग्वेद में पाप शब्द के अनेक रूप प्रयुक्त हुये हैं जिनके अन्तर्गत पाप[८०]

पापतन्[८१] पापतीति[८२] पापस्य[८३] पाप:[८४] पापी:[८५] आदि हैं। जहाँ तक ऋग्वेद कालीन संस्कृति का प्रश्न है वहाँ कर्मों का विधान इतना स्पष्ट नहीं है जितना कि उत्तरवैदिक कालीन संस्कृति में। ऋग्वेद के विहित और अविहित कर्मों की मीमांसा मात्र मन्त्रों की व्याख्या के आधार पर की जा सकती है। जिनका विस्तार उत्तरवैदिक कालीन साहित्य, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् एवं कल्पसूत्रों में अच्छी तरह प्राप्त होता है। इसका मूल उसकी सत्य निष्ठा है जिसे अवेस्ता में 'अष्' के नाम से अभिहित किया गया है[८६]। इस सत्य अथवा ऋत का उल्लंघन करने को ऋषियों ने अनृत की संज्ञा दी है और वही अनृत पाप का मूल कारण माना गया है। इन पाप सम्बन्धी धारणाओं के मूल कारणों में से सुरापान, मन्यु या क्रोध, द्यूत क्रीड़ा[८७], प्रमाद, धूर्तता तथा पूर्वजों द्वारा कृत कर्म हैं। यही नहीं स्वप्न में किये गये दुष्कृत भी इसके कारण बनते हैं[८८]। उपर्युक्त कर्मों से छुटकारा पाने के लिये प्रार्थना की गयी है।

वैदिक वाङ्मय में अनेक पापों की चर्चा है लेकिन उनमें से ब्रह्महत्या को महान पाप की श्रेणी में रखा गया है[८९]। अत: मानवीय हत्या महान् पाप के रूप में प्रदर्शित की गयी है। अच्छे और बुरे के सन्दर्भ में शारीरिक एवं सामाजिक बुराइयों का भी विवेचन किया गया है। शतपथब्राह्मण में एक स्थान पर अश्व के अभिमन्त्रण के सम्बन्ध में कहा गया है कि शारीरिक थकावट ही पाप है। अत: थकावट दूर कर मानों बुराई को दूर किया जाता है[९०]। यहाँ पर सामाजिक बुराई की भी चर्चा की जा सकती है। इसके अन्तर्गत शत्रुता सबसे बड़ी सामाजिक बुराई है। इसको दूर करने के लिये यज्ञ प्रमुख माध्यम है।

जब ऋग्वेद में शकुनि से यह प्रार्थना की जाती है कि वह भद्र बोले और पुण्य बोले[९१] तो यहाँ भद्र के साथ पुण्य का संयोग भद्र की अवधारणा से हटकर पुण्य की अवधारणा से जुड़ जाता है। एक दूसरे सन्दर्भ में स्त्रियों को पुण्यगन्धा कहा गया है[९२]।

इस प्रकार स्वाध्याय, तपस् और ज्ञान के माध्यम से उद्भूत मन, वाणी और कर्म द्वारा सम्पादित समस्त कर्म पुण्य की कोटि में रखे गये हैं। इस प्रकार इसमें रत् व्यक्ति को पुण्यकृत कहा गया जो सुकृत के समकक्ष प्रतीत होता है[९३]।

पाप पुण्य की तरह आगस् एवं अहंस् की अवधारणा का विकास भी हुआ है। वरुण के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह आगस् करने वाले के प्रति दया करता है और उसकी कृपा के कारण हम लोग अनागस् होते हैं[९४]। अंहस् को पाप का पर्याय स्वीकार किया गया है। इसकी दो स्थितियाँ हैं — प्रथम देवकृत अंहस् और द्वितीय मानवकृत अंहस्। जो व्यक्ति देवताओं के सान्निध्य में रहता है उसे न तो देवकृत अंहस् व्याप्त करता है और न मानवकृत[५५]। अहंस जहाँ किसी कर्म का भावात्मक रूप है वहीं उसके कर्त्ता का भी बोध कराता है[६०]।

स्वर्ग और नरक —

ऋग्वैदिक काल से ही मानव के जीवन का अन्तिम लक्ष्य पारलौकिक सृष्टि के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना था । सु उपसर्ग पूर्वक ऋ गतौ धातु से निष्पन्न स्वर शब्द धीरे-धीरे द्युलोक अर्थ से स्वर्ग का पर्याय बना और इन्द्र को इसीलिये स्वरयन्ता या स्वर्ग ले जाने वाला कहा गया है (ऋ० १.१३१.३) क्योंकि वह यजमान को सपत्नीक स्वर्ग ले जाते हैं । स्वर्गप्राप्ति अच्छे के अर्थ में ग्रहण किया जाता है ।

लोक दो हैं एक भौतिक लोक दूसरा आध्यात्मिक लोक । पृथिवी लोक को इह लोक माना जाता है जब कि आत्मा के निवास स्थान की परलोक संज्ञा है । मन, वाणी और कर्म के माध्यम से जो अच्छे या बुरे जैसे कर्मों का बीज होता है उसी के अनुसार भावनाओं का लोक में फल मिलता है अर्थात् मनुष्य के कर्मों का भोग या उसका परिणाम उसकी आत्मा को परलोक में भोगना पड़ता है । परलोक का जीवन निर्भर है इह लोक पर । जो व्यक्ति इस संसार में श्रेष्ठ कर्म करता है एवं ऋत पथ का अनुगमन करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जो ऋत के अनुकूल आचरण नहीं करते हैं तथा पाप कृत्यों को करने के पश्चात् उनका प्रायश्चित भी नहीं करते हैं उन्हें नरक की प्राप्ति होती है । यद्यपि ऋग्वेद में स्वर्ग शब्द कहीं भी नहीं प्रयुक्त हुआ है । ऋ० १०.९५.१८ में पहली बार स्वर् शब्द स्वर्ग के रूप में प्रयुक्त हुआ है । और इसके पश्चात् ऋ० १०.१५४.२ एवं १०.१९०.३ में उसका प्रयोग स्वर्ग अर्थ में हुआ है । स्वर का पर्यायवाची एक शब्द है नाक । ऋग्वेद में नाक शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है[९७] । इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है जहाँ किसी प्रकार का दुःख न हो इसलिये अनेक व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या इस रूप में की है[९८] । नरक का अर्थ है नीचे की ओर जाना । यास्काचार्य ने नरक शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी है । नि+अरक (न्यरक) अर्थात् (पृथिवी) नीचे जाना या न+र+क = नरक अर्थात् जहाँ आनन्द के लिये तनिक भी स्थान न हो[९९] । इस व्युत्पत्ति मूलक अर्थ से स्पष्ट होता है कि पृथिवी के नीचे एक तमोमय गर्त है जहाँ दुःख ही दुःख है इसलिये दुष्टों को उसी में गिराने के लिये अनेक प्रार्थनायें की गयी हैं तथा ऋषि स्वयं उस गर्त से बहुत भयभीत रहते हैं । उन्हें भय है कि कहीं वे इस गर्त में न गिर पड़े इसके लिये अनेक स्थल पर प्रार्थनायें की गई हैं । एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'गड्ढे से मेरी रक्षा कीजिए, इसमें गिरने से बचाइये[१००]।

अमृत —

ऋग्वेद में अग्नि को अमृत प्रदाता कहा गया है[१०१] । सबका धारक वह अमृत के ऊपर राज्य करता है[१०२] । अग्नि का उदार व्यक्तित्व उन्हीं व्यक्तियों के लिये उदार

है जो स्वयं में उदार हैं और अपनी उदारता से देवताओं को हवि प्रदान करते हैं। इसी हवि के माध्यम से वे अग्नि से अमृत के प्रतिदान की कामना करते हैं[१०३]।

संहिताओं से लेकर उपनिषद् काल तक अमृत सम्बन्धी धारणा का विकास निरन्तर होता रहा है। संहिताओं में अनेक देवों के साथ अमृत का तादात्म्य जोड़ा गया तथा ब्राह्मणों में उन देवताओं को यज्ञों से सम्बन्धित अनेक उपादानों को अमृतमय कहा गया अथवा सीधे अमृत स्वरूप कहा गया, वही उपनिषत्कालीन विचारधारा तक आते आते अमृत आत्मा-परमात्मा का पर्याय बन गया और इसी की उपलब्धि को जीवन का परम लक्ष्य या अन्तिम सत्य स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत जाना ही अशुभ अथवा बुरे के अवधारणा के अन्तर्गत माना गया जिसके अन्तर्गत विष और मृत्यु की अवधारणायें भी निहित हैं।

निर्ऋति —

इसके सम्बन्ध में ऋग्वेद में अधिक स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता है। कभी यह भावात्मक देव के रूप में प्रतीत होता है और कभी राक्षस, दु:स्वप्न, आदि के साथ बुरे के रूप में है[१०४]। इससे दूर होने के लिये अथवा उसे बाधित करने के लिये भी प्रार्थनायें की गयी हैं[१०५]।

वाक् —

ऋग्वेद में शुभलक्षण वाली वाणी के लिये सुवाच:, रण्यऽवाच:, सूक्तवाच, भद्रवाच:, इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है[१०६]। इसी तरह अशुभ लक्षण वाली वाणी के लिये अवाच:, विवाच:, पिपाचसम्, अनृतवाक् आदि नामों से अभिहित किया गया है।

ऋग्वेदकालीन धर्म के अन्तर्गत आर्य सबसे अधिक घृणा असत्य से करते थे। असत्यवाणी को वरुण अपने पाश में बाँध लेते थे। यजुर्वेद में इसीलिये कहा गया है कि मैं असत्य से बचकर सत्य को प्राप्त करूँगा[१०७]। इस प्रकार सत्य बोलना वाणी के द्वारा किये जाने वाला श्रेष्ठ कर्म है जिसे शुभ कर्म की अवधारणा के साथ जोड़ा जा सकता है। इसके विपरीत ऐसी वाणी जो सुनने में कर्ण प्रिय न हो बुरी मानी जाती थी। अत: कठोर वाणी को त्याज्य कहा गया है। इस प्रकार वाणी के भी दो रूप विवेचित होते हैं।

शुभ और अशुभ के परिप्रेक्ष्य में मन

मन की विभिन्न स्थितियों में किये गये विभिन्न कर्मों के माध्यम से मन के शुभ

और अशुभ कर्मों पर प्रकाश पड़ता है। मन की दृढ़ता के माध्यम से ही कर्मशक्ति, शारीरिक बल एवं जीवनी शक्ति वर्धित होती है। इसीलिए ऋग्वेद में कहा गया है कि हम सबका मन, कर्म करने के लिये, दक्षता के लिये, जीवन के लिए और चिरकाल तक सूर्य के दर्शन के लिये प्रतिष्ठित होवे[१०८]। इसलिये पितरों से प्रार्थना की गयी है कि हमारे मन को दिव्यत्व से परिपूर्ण करें और समस्त प्राणादि इन्द्रिय संघातों से युक्त करें[१०९]।

इसी तरह ऋ० में शुभ और अशुभ की अवधारणा के रूप में, शिव-अशिव, योग और क्षेम, भद्र एवं शुभ, सुमुति एवं दुर्मति, तथा देवता एवं असुर का सन्दर्भ भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार के सन्दर्भों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक धर्म, शुद्ध मूल्यों पर आधारित एवं जीवन की नैतिकता के साथ प्राकृतिक घटकों में चेतन भाव का उन्मेषक था। ऋग्वैदिक धर्म के इन्हीं शाश्वत विषयों के आधार पर भारतीय धर्म में सनातन नियम विकसित हुए जो आज भी भारत के पहचान के रूप में जाने जाते हैं।

दर्शन

'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाता है उसे दर्शन कहते हैं। जिसके द्वारा परमलक्ष्य या तत्त्व का ज्ञान हो वही दर्शन है। आत्मा को ही दर्शन, मनन और चिन्तन का विषय कहा गया है[११०]। मनु के अनुसार[१११] सम्यक् दर्शन से मनुष्य कर्म बन्धन में नहीं पड़ता। भारतवर्ष में दर्शन की दो परम्परायें थी एक आस्तिक दर्शन की परम्परा और दूसरी नास्तिकों की परम्परा। मनु के अनुसार वेद को न मानने वाले और उसकी निन्दा करने वाला नास्तिक कहलाता है[११२]। वेदों में ऋग्वेद ही प्राचीन कहा जाता है अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि दर्शन की परम्परा अथवा उसके उद्भव एवं विकास का सोपान् ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता है।

ऋग्वेद में अधिकतर विद्वान् बहुदेववादी विचारधारा स्वीकार करते हैं किन्तु हमारे विचार से ऋग्वेद में देवताओं के अनेक नामों एवं वर्णनों को देखकर उसे बहुदेववाद का पोषक नहीं मानना चाहिए वस्तुतः आधुनिक विचारक बहुदेववाद शब्द को चरमतत्त्व के साथ जोड़कर देखते हैं एवं इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि जैसे ऋग्वैदिक जन अनेक देवताओं की सत्ता में विश्वास रखते थे जब कि ऋग्वेदिक जन एक परमात्म तत्त्व में अनन्त शक्ति की सत्ता मानते थे। उनका यह मानना था कि परमतत्त्व वस्तुतः एक है सद्रूप है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १.१६४.४६

जब ऋग्वेद अग्नि के पार्थिव, अन्तरिक्ष एवं द्युलोकस्थ स्वरूप का वर्णन करता है तब वहाँ तीनों अग्नियों में तात्त्विक भेद की भावना नहीं होती है। ऋग्वेद की मान्यता है कि एक तत्त्व है जो सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किए हुए हैं एवं विश्व से पृथक् अथवा अधिक विस्तार लिए हुए है। वह नि:सीम की परिकल्पना से भी आगे है। कहा जा सकता है कि नि:सीम भी उसी में उत्पन्न होता है जिसका नाम है 'अदिति' है। इसी अदिति से प्रकृति के प्रत्येक नियम का नियामक चैतन्य उत्पन्न होता है। इन्हीं का नाम देव या देवता है। ये देव परमतत्त्व से तत्त्वत: जुड़े हुये हैं किन्तु कार्य एवं शक्ति की सीमा निर्धारित होने के कारण पृथक् नाम से भी परिकल्पित किए जाते हैं।

ऋग्वेद[११३] में यह प्रश्न उठाया गया कि 'उस प्रथम' उत्पन्न को किसने देखा है जिसने अस्थि रहित होते हुए भी अस्थिपूर्ण जीव को जन्म दिया है ? इस भूमि का जीवन, रक्त, आत्मा कहाँ है? क्या किसी ने उससे पूँछा जो सर्ववेत्ता है ? संभवत: इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में उसी सूक्त की छियालीसवीं ऋक् में कहा गया है कि एक 'सत्' था जो एक होने पर भी इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वन् आदि अनेक नामों से पुकारा गया है[११४]। एक अन्तिम सत्य की विचारधारा 'ऋत' सम्बन्धी विचारधारा का विकास है। यास्क ने ऋ गतौ धातु से निष्पन्न ऋत को 'जल' का पर्याय माना है[११५]। उन्होंने ऋत् का अर्थ सत्य एवं 'यज्ञ' भी स्वीकार किया है[११६]। परम्परागत व्याख्याकारों ने भी ऋत् का अर्थ यज्ञ, सत्य, और जल ही स्वीकार किया है।

आधुनिक भारतीय भाष्यकारों में अरविन्द के विचार से ऋत् का अर्थ सत्य[११७] है। पाश्चात्य विद्वानों में रोठ ने ऋत को 'नियम' के अर्थ में[११८] स्वीकार किया है जिसका अनुसरण मैक्डॉनल,[११९] मैक्सम्यूलर,[१२०] ग्रासमान,[१२१] तथा वर्गेन्य[१२२] आदि ने किया और ऋत को 'व्यवस्था' का अभिधायक शब्द माना है। बी०एस०घाटे ऋत् को शाश्वत नियम, दैवी नियम तथा नैतिक नियम के रूप में स्वीकार करते हैं[१२३]। इसके अतिरिक्त ऋत पर पी०वी० काणे,[१२४] प्रोफेसर राधाकृष्णन्,[१२५] डी०पी० जोशी,[१२६], विष्णुहरिवेडर,[१२७] एच०डी० वेलणकर[१२८] आदि विद्वान् इसे शाश्वत् नैतिक व्यवस्था के रूप में ही स्वीकार करते हैं। ऋत का यह अर्थ उपयुक्त भी है। ऋग्वेद में ऋत विभिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ऋत् के ऋतजा[१२९] ऋतजात,[१३०] ऋतप्रजात,[१३१] और ऋतजातसत्या[१३२] आदि विशेषण आये हैं जिनसे मालूम होता है कि सम्पूर्ण देवता 'ऋत' से उत्पन्न हुए हैं। एक जगह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के 'तपस्' से 'ऋत' एवं सत्य उत्पन्न हुए और इनके द्वारा रात्रि, समुद्र आदि क्रमशः उत्पन्न हुए।

> ऋतं चं सत्यं च चाभींद्धात् तपसोऽध्यंजायत ।
> ततो रात्र्यंजायत ततः समुद्रो अंर्णवः ॥ ऋ० १०.१९०.१

इस तरह से सृष्टि के मूल कारक के रूप में (ऋत) प्रकृति का बोध कराता है। अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पृथिवी को ऋत का विस्तार माना गया है[१३३]। शाश्वत नियम के रूप में ऋत् समस्त प्राकृतिक शक्तियों का नियामक है। ऋत से ही सूर्य अस्त होता है[२५] और ऋत से ही सूर्य द्युलोक में स्थापित होता है[१३५]। ऋग्वेद में ऋतावा[१३६] ऋतावान्[१३७] ऋतया[१३८] ऋतज्ञा[१३९] ऋतस्यगोपा[१४०] तथा ऋतधीतयः[१४१] आदि विशेषण देवताओं के लिये प्रयुक्त हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ऋत एक ऐसा शाश्वत प्राकृतिक नियम है जिसका, पालन, रक्षण एवं धारण करना देवताओं का कर्त्तव्य है। इसी सन्दर्भ में मित्रावरुणौ के लिये कहा गया है कि वे ऋत की सहायता से सम्पूर्ण लोकों पर शासन करते हैं[१४२] एवं ऋत के मार्ग द्वारा जिस प्रकार नौका से नदियों को पार किया जाता है उसी प्रकार दुःखों से पार करते हैं[१४३]। ऋतावदन्तः,[१४४] ऋतंवदन्तः,[१४५] ऋतमित्वदेम[१४६] आदि रूपों में ऋत का प्रयोग भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ये सन्दर्भ सत्य के अर्थ में ऋत के पर्याय है। वेलणकर[१४७] के अनुसार ऋत अनन्तकाल से चले आ रहे उस तथ्य का सङ्केत करता है जो सदैव तथ्य के रूप में हैं जबकि सत्य सामान्य नियम के रूप में होता है। सत्य किसी की इच्छा पर निर्भर करता है जबकि ऋत को हम देवताओं से पहले स्वीकार कर सकते हैं। यह उनसे भी अधिक शक्तिमान तथा महिमामण्डित है। देव और मानव सभी उस पर आश्रित है।

इसी के साथ ऋत का प्रयोग 'यज्ञ'[१४८] अर्थ को भी व्यक्त करता है और ऋग्वेद के[१४९] अनेक सन्दर्भों में यह 'यज्ञ' अर्थ में प्रयुक्त है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ऋतस्यधारा,[१५०] ऋतस्य धारणा,[१५१] ऋतस्य वृष्णे[१५२] आदि शब्द ऋत के 'जल' अर्थ के वाचक के रूप में प्रयोग किये गए हैं। नदियों को ऋत को लाने वाला कहा गया है[१५३]। इसी तरह ऋत स्तोत्र के वाचक के रूप में,[१५४] आदित्य के रूप में,[१५५] तेज के रूप में[१५६] तथा सायण ने इसे देवत्त्व के रूप में भी स्वीकार किया है[१५७]।

इस तरह से ऋग्वेद में ऋत को प्राकृतिक नियम, सत्य, यज्ञ, जल, स्तोत्र, आदित्य, तेज एवं देवत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु कहा जा चुका है कि मूल रूप से ऋत को 'व्यवस्था' के रूप में स्वीकार किया जाता है।

यही ऋत या सत्य अन्ततः परमात्मा या परब्रह्म पुरुष के रूप में भी वर्णित होता है। ऋ० १०.९० में पुरुष और १०.१२१ में हिरण्यगर्भ उसी सत् के विकास है जो ऋग्वेद १०.१२९ में सृष्टि के प्रारम्भ में था। उक्त विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि वैदिक

दार्शनिक अपने दर्शन के आधार के रूप में, प्रकृति के शाश्वत अनुशासन के रूप में, ऋत को स्वीकार करता है। इस शाश्वत ऋत को किसी अचेतन द्वारा प्रवर्तित अथवा सांयोगिक नहीं माना जा सकता क्योंकि ऋत के प्रत्येक नियमों के पीछे निश्चित तर्क एवं कारण निहित होते हैं। ऋत सृष्टि का मूल भी है एवं सृष्टि के कण-कण में व्याप्त भी है।

सृष्टि मीमांसा

ऋ० १०.१९० में कहा गया है कि तपस् से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। इससे रात्रि, समुद्र, जल उत्पन्न हुए। समुद्र से संवत्सर और रात्रि-दिन से सम्पूर्ण सृष्टि उद्भूत हुई। धाता ने सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि पहले की इसके पश्चात् द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष का निर्माण किया।

ऋग्वेद के अनुसार सत् की उत्पत्ति असत् से हुई-देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। यहाँ असत् पद का तात्पर्य अत्यन्ताभाव नहीं लेना चाहिए। अपितु असत् कहने से ऋषि के दार्शनिक सोच की चरम सीमा द्योतित हुई है। उसे उसने सृष्टि के प्रथम बीज के जन्म के पूर्व के क्षण को इस असत् शब्द से व्यक्त कर लेने की चेष्टा की है। वस्तुतः सृष्टि की प्रथम सत्ता के पूर्व जो कुछ भी था वह अनिर्वचनीय था एवं शून्य जैसा था। (ऋ० १०.७२.२) किन्तु ऋ० १०.३१.७ में प्रश्न किया गया है कि किस वृक्ष से इस पृथिवी और स्वर्ग की रचना की गई? ऋ० १०.१२१ में हिरण्यगर्भ को कहा गया है कि वह प्रथम उत्पन्न है और समस्त लोकों को उसने व्याप्त कर रखा है एवं सभी उत्पन्न वस्तुओं का स्वामी है।

ऋग्वेद में सृष्टिवाद सम्बन्धी दार्शनिक विचारों में हिरण्यगर्भ सूक्त का विशिष्ट स्थान है। जहाँ एक ओर ऋग्वेद के प्राचीनतम कहे जाने वाले अंसों में बहुदेवतावाद की प्रतिष्ठा है वहीं एकेश्वरवाद की विचारधारा का पल्लवन हमें ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है। जहाँ पहले अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु, अर्यमन् आदि अपनी अलग-अलग सत्ता लिये अलग-अलग देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए वहीं इन सबको 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अन्तर्गत अनेक की सत्ता को एक में समाहित भी किया गया और एक ही अन्तिम सत्य के विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है। इसी एक अन्तिम सत्य के रूप में हिरण्यगर्भ सूक्त[१५८] में कः नामक देवता या प्रजापति और पुरुष सूक्त[१५९] में पुरुष की प्रतिष्ठा हुई। ये दोनों समस्त सृष्टि के विकास की प्रक्रिया के नियामक हैं। ऋग्वेद में ३५० बार प्रयुक्त ब्रह्म शब्द[१६०] क्रमशः स्त्रष्टा[१६१] और प्रजापति[१६२] के अर्थ में ही आया है।

विश्व की उत्पत्ति की एक पुराकथाशास्त्रीय विवरण जिसमें न तो उत्पादन है और न निर्माण ऋग्वेद के सुविख्यात पुरुष सूक्त में मिलता है। इसका प्रमुख विचार

अत्यन्त पुरातन है । यह एक विराट पुरुष के शरीर से जगत् की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत करता है । इस पुरुष के साथ देवों ने यज्ञ किया । उसका सिर आकाश, उसकी नाभि वायु और उसके पैर पृथिवी बन गए । उसके मनस् से चन्द्रमा, उसके नेत्र से सूर्य उसके मुख से इन्द्र और अग्नि तथा उसके श्वास से वायु की उत्पत्ति हुई । चारो वर्ण भी इसी से उत्पन्न हुए । स्वयं इस सूक्त में जो व्याप्त है वह अद्वैत परक है क्योंकि ऐसा कहा गया है कि जो कुछ है और जो कुछ होगा वह सर्वस्व यही पुरुष है (ऋ० १०.९०)। ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त में ऋषि[१६३] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को यज्ञमय मानता है अतएव सृष्टि कर्म भी यज्ञ है । विराट् पुरुष यज्ञ में अपने को अर्पित कर अनेक रूपों में प्रकट होता है । स्रष्टा विराट् पुरुष का तथा उसके अङ्गों का ही इस सूक्त में दर्शन होता है । सृष्टि प्रक्रिया में विराट् पुरुष की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी गयी है । यहाँ पर एकेश्वरवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा जान पड़ती है । पुरुष सूक्त के साथ ही ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ तथा नासदीय सूक्त भी सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं । ऋग्वेद १०.१२९ में कहा गया है कि प्रलय काल में न सत् था न असत् था, न मृत्यु थी न अमृत था, अन्धकार था और जल ही जल था । और वह एक ब्रह्म था जो तप के प्रभाव से हुआ । उस ब्रह्म ने परमात्मा के मन में सृष्टि करने की इच्छा व्यक्त की अर्थात् सत् से असत् की उत्पत्ति । उसी सूक्त में यह प्रश्न भी उठता है कि कौन मनुष्य जानता है और यहाँ कौन कहेगा कि यह सृष्टि कहाँ से और किस कारण उत्पन्न हुई[१६४] । इसी सूक्त[१६५] के अन्तिम मन्त्र में कहा गया है —

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति को सर्वोच्च देव स्वीकार किया गया है। प्रजापति अशेषसत्ता के अकेले अधिपति हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ ही वर्तमान था[१६६] । जो आत्मा को देने वाला है तथा जो शक्ति प्रदाता[१६७] है । जब महती आपः देवियाँ हिरण्यमयगर्भ को धारण करती हुई और अग्नि रूपी (उस गर्भ) को उत्पन्न करती हुई चारों और प्रवाहित हुई तो उनसे समस्त देवताओं का प्राणरूप वह अकेला (ब्रह्म) प्रवर्तित हुआ[१६८] ।

सृष्टि के उद्भव और इसके लक्ष्यों के प्रति ऋषि चेतनाशील रहे हैं लेकिन इस ज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने सदैव संशयात्मक घोषणा ही की है —

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेदयत आबभूव । ऋ० १०.१२९.६

कौन इस बात को जानता है और कौन इसकी घोषणा कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से उद्भूत हुई और कहाँ से आई[१६९]।

सृष्टि सम्बन्धी इन प्रश्नोत्तरों का क्रम निरन्तर चलता रहा है। अथर्ववेद में आकर ऋषियों ने कहा काल ही वह तत्त्व है जिसने समस्त सृष्टि की रचना की[१७०] है। लेकिन ऋग्वेद में काल का सम्बन्ध सृष्टि से न होकर वह ऋत के रूप में विख्यात है। वही सृष्टि के प्रारम्भिक गर्भ रूप अग्नि का स्थान है। ऋत के प्रथम गर्भ के रूप में विष्णु को माना गया है[१७१]। इस तरह प्रजापति या हिरण्यगर्भ अथवा पुरुष ब्रह्म ने सृष्टि नियन्ता का स्थान ग्रहण कर लिया[१७२] तथा पुरुष को समस्त सृष्टि के उद्भवकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया[१७३]। इसी अन्तिम सत्य को मनीषी गण, अग्नि, यम, मातरिश्वन् आदि अनेक नाम से पुकारते हैं[१७४]।

देवशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रत्येक देवता ने क्रम से इस सृष्टि का सृजन किया। कभी अग्नि कभी इन्द्र कभी विष्णु इस सृष्टि के कर्त्ता कहे गए हैं। ऋ० १०.३१.७ में भी सृष्टि के विषय में संशयात्मक प्रश्न ही उठाया गया है जब कि ऋ० १०.१२१ में प्रजापति को स्रष्टा माना गया है। इन सन्दर्भों का तात्पर्य सृष्टिकर्ता के एकत्व की प्रतिष्ठा में है जिसे कभी अग्नि कभी विष्णु कभी प्रजापति नाम दिए गए हैं। नासदीय सूक्त में[१७५] काम या संकल्प से सृष्टि का उद्भव माना गया है। दार्शनिक परम्परा में इस सूक्त की अभिव्यक्ति का अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि वस्तुतः इस सृष्टि के सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं जानता। अज्ञानरूपी अन्धकार हमारी कामनाओं के साथ सम्पृक्त है और वही सब में व्याप्त है। नासदीय सूक्त सृष्टि विषयक संशय एवं अज्ञान की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

परमात्मा

यास्क का विचार था कि सृष्टि के मूल में देवता के महान ऐश्वर्य सम्पन्न होने से एक ही महत्त्वपूर्ण शक्ति कार्य भेद से ईश्वर या परमात्मा कही जाती है। सभी देवता एक ही आत्मा के प्रत्यङ्ग रूप हैं और उसी आत्मा का विभिन्न प्रकार से पूजन होता है[१७६]।

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति ॥

इस सर्वव्यापी और महनीय सत्ता का पूजन ऋग्वेदी उक्थ में करते हैं, अध्वर्यु अग्नि में और सामवेदी महाव्रत में[१७७]। नासदीय सूक्त में वर्णित यही परमात्मा सृष्टि के पूर्व विद्यमान था जिन्होंने सृष्टि की कामना की[१७८]। ऋ० ८.१२६ में इन्द्र को परमात्मा

के रूप में स्वीकार किया गया है। वे अद्वितीय अधीश्वर है तथा समस्त देवों का उद्भव उन्हीं से है। आत्मा — श्वास, देह, हृदयदेश, आदि के अर्थ में प्रयुक्त आत्मन् शब्द अन् धातु से बनता है[१७९]। एक से दूसरे में सञ्चरणशील इस आत्मा का अधिष्ठाता हिरण्य गर्भ सूक्त में प्रजापति को माना गया है[१८०]। ऋ० १०.१०७.२ में स्वर्ग का दान करने वाले को अमृतत्त्व का अधिकारी कहा गया है। प्राण और आत्मन् के अतिरिक्त चेतना के सिद्धान्त को व्यक्त करने वाले अन्य शब्द असु और 'मनस्' हैं। असु दैहिक शक्ति और मनस् मानसिक शक्ति का द्योतक है जिसे ऋग्वेद में हृदय में स्थित माना गया है[१८१]। सूर्य को सभी स्थावर जङ्गम की आत्मा कहा गया है[१८२]। इसके विषय में कहा गया है —

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः। ऋ० १.१६४.७

अर्थात् जो इसके रहस्य को जानता हो वह स्पष्ट करे। आत्मा के विषय में इसी सूक्त में कहा गया है कि —शीघ्र गति से गति करने वाला, तथा वासन करने वाला, यह जीव निकल जाता है और यह शरीर गृह में निश्चल पड़ा रहता है। मरे हुए का मर्त्य के साथ रहने वाला अविनाशी आत्मा अपनी धारण शक्तियों से युक्त होकर घूमता रहता है[१८३]। अन्त में — 'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्'। अर्थात् जिसने यह सृष्टि बनाई वह भी इसके रहस्य को नहीं जानता[१८४]। ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में उल्लेख है कि भूमि, प्राण, रक्त और आत्मा ये सब कहाँ थे ? यह पूछने के लिये कौन विद्वान् के पास गया ?

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत्।
ऋ० १.१६४.४

ऐतरेय ब्राह्मण ८.३ में प्राण का निर्वचन प्राप्त है। जहाँ अन् धातु से प्राण शब्द की निष्पत्ति मानी गई है 'तमभिप्राणेत्प्राण प्राणं मे यच्छ' उस (उपांशु ग्रह) को लक्ष्य करके श्वास ले और बोले-हे प्राण मुझे प्राण दो। प्राणा वै समिधः प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते। अर्थात् प्राण ही समिधाएँ हैं क्योंकि प्राण ही सबको दीप्त करते हैं[१८५]।

आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध

ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में उल्लेख है कि उपाधि रहित परमेश्वर की माया तथा प्रज्ञा से व्याप्त सूर्य को विद्वान् लोग हृदयस्थ मन से जानते हैं। क्रान्तदर्शी ज्ञानी सूर्यमण्डल के बीच में उसे विशेष रूप से अवलोकन करते हैं। उसमें स्थित परम ब्रह्म

को जानते हैं[१८६] । उपर्युक्त सन्दर्भों में सूर्य के साथ जीवात्मा का वर्णन है । वहाँ कहा गया है कि जीवात्मा का कभी पतन नहीं होता वही कभी समीप और कभी दूर-नाना मार्गों में भ्रमण करता है, वही कभी अनेक वस्त्र पहनता है (अनेक गुण धारण करता है) । इस प्रकार संसार में वह बार-बार आता जाता है । ऋग्वेद १.१६३.६ में अश्वं के सम्बन्ध में उल्लेख है कि हे अश्व उड़ते हुए पक्षी की तरह द्युलोक से नीचे आने वाले तेरी आत्मा को दूर से ही प्रसन्न मन से मैंने जान लिया है । आत्मा का यह सन्दर्भ सूर्य के लिये आया है ।इसी के अंगों (ऋ० १.१६४.७) में सूर्य के स्थान को जो जानता है, यहाँ आकर इस रहस्य को स्पष्ट रूप से कहे अर्थात् गुह्य स्थान को जानने वालों के प्रति सन्देह व्यक्त किया गया है ।

जीवात्मा और परमात्मा एक वृक्ष के दो पक्षी हैं[१८७] । एक भोक्ता है तो दूसरा दृष्टा । भोक्ता सञ्चरणशील जबकि दृष्टा स्थिर है । दृष्टा, भोक्ता के द्वारा स्तुत्य है । दोनों का एक ही निवास स्थान है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । यों दोनों प्रकृति के सान्निध्य में एक साथ हैं, आलिङ्गनबद्ध है लेकिन एक सुख दुःख का अनुभव करता है जबकि वहीं पर दूसरा निर्लिप्त भाव से प्रकाशित होता रहता है ।

परमात्मा एवं सृष्टि का सम्बन्ध

ऋग्वेद में एक तत्त्व की कल्पना हुई । जिस समय कुछ भी नहीं था, उस समय वही एक था । उस एक तत्त्व परमात्मा से सृष्टि का समारम्भ हुआ । अखिल विश्व की रचना का कारण और उपादान वही एक हुआ । वह परमात्मा अखिल विश्व-प्रपंच में व्याप्त होकर मनुष्य के बाहर और भीतर सर्वत्र सबका शाश्वत नियमों द्वारा सञ्चालन कर रहे हैं । अम्भृण नामक महर्षि की पुत्री ने जिसका नाम अम्भृणी था और जिस ब्रह्मवादिनी ने अपनी विराट् सत्ता की स्थिति का वर्णन ऋग्वेद में किया है । वाक् देवी कहती है जो कोई खाता है, देखता है, श्वास लेता और सुनता है वह मेरे माध्यम से ही यह सब करता है । मेरे इस स्वरूप को न स्वीकार करने वाले नष्ट हो जाते हैं (ऋ० १०.१२५.३) । अन्त में आर्यों ने समस्त देवताओं के ऊपर एक परम तत्त्व की प्रतिष्ठा आरोपित की जिसे उन्होंने कभी हिरण्यगर्भ, कभी प्रजापति और कभी विश्वकर्मा के नाम से कहा । यहाँ एकेश्वरवाद की पराकाष्ठा थी ।

यही परमतत्त्व सृष्टि का नियन्ता है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । सृष्टा और सृष्टि में कोई भेद नहीं है । सृष्टि ही स्रष्टा है । स्रष्टा ही सृष्टि है । आत्मा, परमात्मा एवं दृष्टि एक ही अनुशासन से निष्पन्न होकर समन्वित हैं । अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है, वाक् हृदय में, हृदय मुझ में, और मैं अमरत्व ब्रह्म में (ऋ० १०.४०.५) । परमात्मा एवं सृष्टि

का सम्बन्ध अक्षुण्ण है। परमात्मा एवं सृष्टि के सम्बन्धों की जब बात आती है तो पुरुष सूक्त के प्रथम मन्त्र का स्मरण स्वाभाविक है। वहाँ कहा गया है उस (परमात्मा) ने भूमि को चारों ओर से ढक करके अपने को इसके ऊपर दस अङ्गुल उठाया।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यंतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। ऋ० १०.९०.१

आचार्य सायण ने इस पद की व्याख्या करते हुये लिखा है — स: पुरुष: भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वत: सर्वत: वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थित:। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थ:[१८८]।

पुरुष ने समस्त सृष्टि में व्याप्त होकर इसके बाहर भी अपने को प्रतिष्ठित किया अर्थात् इसकी सीमा से अतिक्रमण किया। इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता का बोध होता है एवं सृष्टि परमात्मा का अङ्गीभूत है। इस तरह परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है।

सन्दर्भ

१. मैक्डॉनेल और कीथ (अनुवादक - रामकुमार राय), वाराणसी, १९७२, पृष्ठ ४३७; ऋ० १.२२.१८, १६४.४३, ५० आदि

२. मनुस्मृति २.६

३. महाभारत, शान्तिपर्व १०८.११

४. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पांचवा भाग, प्रथम संस्करण १९७३, पृष्ठ १०७

५. ऋ० १०.९०.१६, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्

६. ऋ० १.२२.१८, त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य:। अतो धर्माणि धारयन्

७. ऋ० १.१३९.९ एवं १०.१५८.१

८. अष्टाध्यायी, ३.३.९०

९. ऋ० १.१६४.२०

१०. ऋ० १.८३.५, १.२२.१३, ७६.१, २.३४.१३, ३.५५.१३

११. ऋ० १.१.४, २.२.५, ३.७.५, ४.७.३, ५.२६.३, ६.५२.१२ आदि

१२. वही १.६.८, ३.३.७, ८.४६.२५, १०.११.६ आदि

१३. यज्ञो वेनोऽध्वरो मेधो विदथ: सवनं मख:
नार्यो होत्रा तथा चेष्टि: देवतात: प्रजापति:
विष्णुरिन्दु: तथा धर्म: यज्ञा वै दश पंच च ॥ निघण्टु ३.२७, २८
यज्ञ: सवोऽध्वरो याग: सप्ततन्तुर्मख: क्रतु: (अमर कोष २.७.१३)

१४. ऋ० १.२.८, ४.१०.१, ५.३१.११, ६.९.५, ७.२५.४ आदि ।
१५. ऋ० १.३०.१२, १०.३६.६ आदि
१६. ऋ० १०.५२.४
१७. ऋ० १.११०.४, ७.१०३.१ आदि
१८. ऋ० २.५.७, १.६०.३ आदि
१९. ऋ० १.१.१, ६.७०.४
२०. ऋ० ३.१०.२
२१. ऋ० २.४३.२
२२. ऋ० २.१.२
२३. ऋ० ७.३३.११
२४. ऋ० ८.४३.२०
२५. ऋ० १.१.१, ८.४३.२०
२६. नि० १.८
२७. ऋ० २.५.६
२८. आचार्य बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६७, पृष्ठ ४९२
२९. ऋ० २.१.२
३०. ऋ० १.९४.६, २.१.२, ३.७.७ आदि
३१. तै० ब्रा० १.३.१०.१ आदि
३२. ऋ० १०.९०.१ से १६ तक
३३. ऋ० १०.९०.१५ का हिन्दी अनुवाद
३४. आचार्य बल्देव उपाध्याय , वैदिक साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६७, पृष्ठ ४९३
३५. पं० देवदत्त शास्त्री, अथर्ववेदीय तन्त्र विज्ञान, विविधभारती प्रकाशन इलाहाबाद, १९८५, पृष्ठ १०
३६. श्रीछज्जूरामशास्त्री एवं पं० देवशर्म शास्त्री, निरूक्तम्, दिल्ली, १९६४, पृष्ठ ५७६
३७. ऋ० २.१.१६
३८. ऋ० १०.७१.११
३९. गोपथ ब्राह्मण १.१३.२८
४०. आपस्तम्ब गृह्य सूत्र २.६.१०
४१. ऋ० ४.२६.२७
४२. ऋ० ३.८६.६
४३. ऋ० ३.३८.२, ७.१०४.२०
४४. ऋ० ७.३८.८
४५. ऋ० ३.५५.१५
४६. ऋ० १.१६४.३०, ४.२७.१ आदि

४७. ऋ० १.१६४.३०, ४.२७.१ आदि
४८. ऋ० ७.९.३
४९. वही ७.१०१, ७.१०.२
५०. ऋ० १.२५.६, ४.५.५, १०.१३२.४ आदि
५१. ऋ० १०.१५.९
५२. ऋ० १०.१५.१०
५३. ऋ० १०.१६९.४
५४. ऋ० १०.१४.१
५५. वही १०.१४.३
५६. ऋ० १०.१४.३ एवं ११
५७. ऋ० १०.१३०.१
५८. ऋ० १०.१५.८ एवं ९
५९. ऋ० १०.१४.२, ७ एवं १५
६०. ऋ० १०.१५.३
६१. ऋ० १०.१४ एवं १५
६२. ऋ० १०.१४.३, ५ एवं ९
६३. अथ० १८.२.४९
६४. ऋ० १०.१५.१०
६५. ऋ० १०.१५.५ एवं ६.१०.१५
अथ० ८.२.२८
६६. ऋ० १०.१५.१४ एवं १०.१४.८
६७. ऋ० ९.११३.७
६८. ऋ० १०.१०७.२
६९. ऋ० १०.१५४.५
७०. ऋ० १.१०९.७
७१. ऋ० ३.५४.१२ सुकृतः सुपाणिः स्वावाँ ऋतावा । वही ऋ० ७.६२.१, ९.१२.४, १०.४९.९ आदि
७२. ऋ० १०.६३.९
७३. ऋ० ३.११.३२
७४. यजु० ३४ वां सूक्त
७५. ऋ० १०.८५.२४, अथ० १४.१.१९
७६. अथ० १७.१.२७
७७. ऋ० ८.४७.१७, १०.३६.४
७८. ऋ० १०.३७.४

७९. तै० आ० १०.१.८
८०. ऋ० १०.१०५.३
८१. ऋ० ८.२०.४
८२. ऋ० ६.६.२
८३. ऋ० १.१२९.१
८४. ऋ० १.१९०.५
८५. ऋ० १०.१०८.६
८६. H.P. Schimdt, *Vedisch Vrata und Awestisch Uravata*, Hamburg, 1958.
८७. ऋ० ७.८६.६
८८. तै० सं० ५.३.१२
८९. ऋ० ७.८६.६
९०. ऋ० ६.३.७, ८
९१. ऋ० २.४३.२
९२. ऋ० ७.५५.८
९३. तै० आ० १.३.३, १.४.१, १.१८.५
९४. ऋ० ७.८७.७
९५. ऋ० ८.१९.६
९६. ऋ० १०.३६.२
९७. द्रष्टव्य - ऋ० १.३४.८, ६८.८, ८५.७, १३९.४, १६४.५०, ३.२.१२, ५.१०, ४.११३.५, १४.५ आदि
९८. निरू० २.१४
९९. द्रष्टव्य नि० २.११
१००. ऋ० २.२९.६
१०१. ऋ० ७.४.५
१०२. ऋ० ५.२८.५
१०३. ऋ० ४.१८.५
१०४. ऋ० १०.३६.४
१०५. ऋ० १.२४.९ इत्यादि
१०६. ऋ० ३.७.१०, ३.५४.४, ३.५५.७, ५.९९.५, ६.२८.६ आदि
१०७. यजु० १.५
१०८. ऋ० १०.५७.४
१०९. ऋ० १०.५७.५
११०. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः

१११. सम्यग् दर्शन सम्पन्न: कर्मभिर्न निबद्धयते
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ मनु० ६.७४
११२. नास्तिको वेद निन्दक: । मनुस्मृति २.११
११३. ऋ० १.१६४.४
११४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥ ऋ० १.१६४.४६ ।
११५. निघण्टु १.१२, ६८, ७०
११६. सत्यं वा यज्ञं वा । निरुक्त ५.१९
११७. श्री अरविन्द, वेद रहस्य, श्री अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी, १९७२, पृष्ठ ७७, ७८, १०२ तथा १०७
११८. सेण्ट पीटरबर्गस् कोष
११९. Arthor Anthony Macdonell, *A Vedic Reader*, Oxford University Press, Madras, 1972, p.9.
१२०. Maxmüller Fredrik, *India what can teach us*, Bombay, 1899, p. 9.
१२१. Grassmann Hermann *Worterbach Zum RgVeda*, p.282.
१२२. Bergaigne, A . *Religion de Vedique*, 3 Vols, Paris, 1881, p.219.
१२३. घाटे, लेक्चर्स आन् ऋग्वेद, पृष्ठ, १४४
१२४. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी रूपान्तर), १९७३
१२५. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ७०-७१ ।
१२६. दि ऋत, ए० आई० ओ० सो० 15th सेसन; बाम्बे, १९४९ सेक्सन Ist, पृष्ठ ८
१२७. ऋत आर दि जुडियाकल वेल्ट, पूना ओरियन्टालिया, वाल्यूम १०, १९४५, पृष्ठ १०४
१२८. प्राध्यापक हरि दामोदर वेलणकर, ऋक्सूक्त वैजयन्ती, पुणे, १९६५, पृष्ठ २९.
१२९. ऋ० ३.५८.८, ४.४०.५
१३०. ऋ० १.४४.७, १८९.६, ३.२०.२, ६.१३.३ तथा ९.१०८.८ आदि
१३१. ऋ० १.६५.५, २.२३.१५
१३२. ऋ० ४.५१.७
१३३. ऋ० १०.९२.४
१३४. ऋतेन देव: सविता शमायत । ऋ० ८.८६.५
१३५. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्य प्रथयन् पृथिवीं मातरं विं । ऋ० १०.६२.३
१३६. ऋ० १.७७.२, ५, ३.५४.१२, ४.६.५, ५.२५.१, ८.७५.३
१३७. ऋ० ७.६६.१३, ८.२५.७, ८.२५.
१३८. ऋ० १.११३.१२ ।
१३९. ऋ० ५.४३.६, ५७.८, ७.३५.१५ आदि
१४०. ऋ० १.१.८, ५.६३.१, ६.५१.३, ७.६२.२

१४१. ऋ० ५.५१.२
१४२. ऋ० ५.६३.७
१३३. ऋ० ७.६५.३
१३४. ऋ० १.१६१.९
१३५. ऋ० १०.६१.१०
१३६. ऋ०३.५५.३
१४७. ऋत और सत्य, ऑल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फरेन्स, १९५९, पृष्ठ ३-४
१४८. ऋ० १.१८८.२
१४९. ऋ० १.३३.१, १.५४३.७, ५.५.६, ७.२१.५, ८.६.१० आदि
१५०. ऋ० ५.१२.२
१५१. ऋ० ९.३३.२, ६३.४, १४ एवं २१
१५२. ऋ० ५.१२.१
१५३. ऋ० १.१०५.२२
१५४. ऋ० ३.७.८ पर सायण भाष्य
१५५. ऋ० १.१३६.२
१५६. ऋ० ४.२.१९ पर सायण एवं वेङ्कटमाधव का भाष्य
१५७. ऋतस्य ऋत देवस्य सम्बन्धिनः, ऋ० ४.२३.८ पर सायण भाष्य
१५८. ऋ० १०.१२१
१५९. ऋ० १०.९०
१६०. ऋ० सं० पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ ४०७-४०८
१६१. ऋ० १०.१२५.५
१६२. ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । ऋ० १०.१२५.५ पर सायण भाष्य
१६३. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, वैदिक देवता, दिल्ली, १९८९, पृष्ठ २१३
१६४. ऋ० १०.१२९.६
१६५. ऋ० १०.१२९.७
१६६. ऋ० १०.१२१.१
१६७. ऋ० १०.१२१.२
१६८. ऋ० १०.१२१.७
१६९. ग्रिफिथ, आर०टी०एच०, अनुवाद अनुसृत, हिम्स आफ् दि ऋग्वेद वाल्यूम- २, वाराणसी, १९६३, पृष्ठ ३७६
१७०. अथर्व० १९.५३.५ एवं ६
१७१. ऋ० १.१५६.३
१७२. ऋ० १०.१२१.१ से ७
१७३. ऋ० १०.९०.१ से १६

१७४. ऋ० १.१६४.४६
१७५. ऋ० १०.१२९
१७६. नि० ७.१
१७७. ऐ०आ० ३.२.३.१२
१७८. ऋ० १०.१२९.४
१७९. Suryakant, *A Practical Vedic Dictionary*, Oxford University Press, Bombay, 1981, p. 133.
१८०. ऋ० १०.१२१.२
१८१. मैक्डॉनेल, ए०ए० वैदिक माइथोलोजी (अनुवादक - रामकुमार राय), वाराणसी, १९८०, पृष्ठ ३१६
१८२. ऋ० १.११५.१ (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च)
१८३. ऋ० १.१६४.३०
१८४. ऋ० १.६४.३४
१८५. डॉ० सरोज 'दीक्षा' विद्यालंकार, ऐतरेय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के निर्वचन, दिल्ली, १९८९, पृष्ठ १०७
१८६. ऋ० १०.१७७.१
१८७. ऋ० १.१६४.२०
१८८. ऋ० १०.९०.१ पर सायण भाष्य

* * *

निगमन

भारतीय चिन्तन शैली एक प्रमुख पहचान है और वह सबको विदित भी है कि दर्शन को, हमारे ऋषिगण जीवन का सम्पूर्ण एवं सर्वाङ्गीण उपलब्धि की चरम परिणति के रूप में व्याख्यायित करते हैं । किसी काल या देश की सामाजिक जीवन शैली एवं विचारों का तात्त्विक प्रवाह उसके दार्शनिक चिन्तन में प्राप्त होता है एवं उसी में अपनी परिणति को व्यक्त करता है । इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का उपसंहार ऋग्वेद के आधार पर आर्य एवं आर्येतर गणों का सामाजिक परिवेश एवं जीवन शैली का अध्ययन करने के पश्चात् तथा उसी ग्रन्थ के दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करने के बाद पूर्ण हो जाता है । तथापि अन्तिम पृष्ठ के रूप में कुछ शब्द या विचार प्रकट करना न केवल उपचारार्थ अपितु प्रबन्धकीय परिकल्पना की पूर्णता के लिये आवश्यक है ।

ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ होने के साथ-साथ सर्वाधिक विवादित भी है । यह विवाद दो प्रकार का है । प्रथम विवाद उसके काल के सम्बन्ध में है । वस्तुत: ऋग्वेद को ऋषि समूह की रचना मानने वाला वर्ग जिसमें अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् हैं आज तक किसी एक निष्कर्ष पर एक मत नहीं हो पाए हैं । इस ग्रन्थ के प्राचीनतम कहे जाने वाले अंशों के उद्भव के सम्बन्ध में साठ हजार ई० पू० से बारह सौ ई० पू० तक के मत प्रतिपादित किए गये हैं एवं इन सभी प्रकार की काल गणनाओं को विश्व भर के विद्वान् दोष पूर्ण मानते हैं । सभी के अपने-अपने तर्क हैं किन्तु किसी का तर्क सर्वमान्य नहीं है । इन सभी तर्कों को इतिहास के विद्यार्थी पढ़ते हैं एवं भ्रमित रहते हैं ।

दूसरी ओर भारतीय मान्यता यह है कि वेद किसी पुरुष की रचना है ही नहीं। साथ ही इस ग्रन्थ का कोई भी भाग अथवा मन्त्र यहाँ तक कि अक्षर भी किसी काल की सीमा में नहीं बाँधे जा सकते हैं । ये नित्य हैं । सभी काल में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए ईश्वर ने इन वैदिक मन्त्रों को सत्तावान रखा है । इन नित्य शब्दों का तत्त्व-दर्शन करने वाले ऋषियों ने सृष्टि के आदि काल में साक्षात्कार किया था एवं लोक के लिए इन मन्त्रों का समाम्नाय या संग्रह किया था । इस प्रकार भारतीय चिन्तन परम्परा ने एक मत होकर अति प्राचीन काल से ही वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के काल के विषय में किसी प्रकार का विचार ही नहीं किया । वे इन मन्त्रों को अनादि मानते रहे एवं अपने विचारों को इन्हीं से पोषित करते हुये समाज को व्यवस्था एवं दिशा देते रहे।

यदि इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो यही दिखाई देता है कि आरम्भ से बुद्ध के युग तक एवं विशेषरूप से गुप्तयुग तक सामान्य रूप से, भारत में सामाजिक उन्नति उत्तरोत्तर होती रही है। यद्यपि भारतीय उपमहाद्वीप उन सभी कालों में राजनैतिक दृष्टि से कभी एक नहीं रहा तथापि वेद विद्या की प्रतिष्ठा एवं तदनुकूल आचरण सर्वत्र समान रहा है। बौद्ध साहित्य में बुद्ध के जीवन काल तक ऐसे प्रमाणों का अभाव रहा है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि बुद्ध ने खुले शब्दों में वेदों की प्रतिष्ठा पर आघात किया हो । हाँ बाद के बौद्ध प्रचारकों ने अन्य राजनैतिक कारणों से ब्राह्मण धर्म का विरोध किया एवं जब वह विरोध प्रभाव कर पाने की सीमा तक विकसित हुआ तब उसकी सारी मान्यताएँ कुमारिल भट्ट ने तर्क की भूमि पर धराशायी कर दिया एवं वेद विद्या का प्रवाह सतत् प्रवाहमान रहा । भारत के प्राचीन इतिहास से यह पूर्णत: सिद्ध है कि वैदिक धर्म एवं दर्शन ने भारतीय समाज में ऐसे सनातन मूल्यों के संस्कार दिए हैं जिनके कारण सम्पूर्ण भारत अपने सर्वविध उन्नति की साधना करने में समर्थ रहा है ।

किन्तु जब यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् विश्व का आर्थिक संकेन्द्रण परिवर्तित होने लगा एवं यूरोपीय उपनिवेशवाद बढ़ने लगा तब भारत के इन पवित्र ग्रन्थों का यूरोपीय देशों को नए सिरे से परिचय प्राप्त हुआ ।

यह तथ्य है कि किसी भी समाज पर प्रभाव डालने के लिए उस समाज की संस्कृति की पहचान आवश्यक होती है । यूरोप को भारत में अपने उपनिवेशवाद की नीव गहरी जमानी थी । अत: यूरोपीय बुर्जुआ वर्ग ने भारतीय संस्कृति का अध्ययन अपने ढंग से किया । इसी अध्ययन क्रम में वैदिक साहित्य में काल के पूर्वापर की संकल्पना ने जन्म लिया । गत शताब्दी में काल के पूर्वापर की पाश्चात्य संकल्पना को आधार बनाकर विश्वभर के शिक्षाविदों ने इतने ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं कि वर्तमान सन्दर्भों में भारत की प्राचीन मान्यता गौण होती सी लगती है किन्तु यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि आज भी भारत में जो वेदों का पारम्परिक अध्येता है वह काल की पूर्वापर की पाश्चात्य कल्पना को अविचारित रमणीय कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मानता ।

यह और भी विचित्र तथ्य है कि आज भी भारत में वेदों के विषय में पारम्परिक मान्यता पर विश्वास करने वाले, दुनियाँ भर में वेदों के विषय में पाश्चात्य मान्यता पर विश्वास करके उनका अध्ययन करने वालों की अपेक्षा संख्या में कहीं अधिक हैं ।

अध्ययन का क्षेत्र भी इसी प्रकार की विसंगतियों से आप्लावित है । किन्तु हमें इस ग्रन्थ में वैदिक साहित्य के आधुनिक अध्ययन शैली को तिरस्कृत करना उचित

प्रतीत नहीं हुआ। अत: पाश्चात्य विचार सरणि को उचित स्थान देते हुये मैंने इस ग्रन्थ को मूल ग्रन्थों से जोड़ने का प्रयास किया है।

वस्तुत: ऋग्वेद के अध्ययन से उस काल के सम्पूर्ण जीवन के रूप का अन्वेषण करना कठिन है। तथापि इस अविनाशी साहित्य में जो संकेत हैं वे एक परिपक्व मानस की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद में अधिकांश मंत्र समान हैं अत: काल के पूर्वापर्य की अनिर्णीत विचार धारा को त्यागकर भारतीय मान्यता का आदर करते हुये हमने प्राचीन यज्ञों की प्राथमिक स्तुतियों को आधार बनाया। जो भी काल रहा हो ऋग्वेद का हमने उसी काल के समाज के विषय में इसी ग्रन्थ से संकेत प्राप्त करने का यत्न किया है।

पूर्व के अध्यायों में यह स्पष्ट हो चुका है कि ऋग्वेद की स्तुतियों के अधिष्ठातृ चेतन देवगण यज्ञ भाग लेने के लिए उपस्थित होते रहे होंगे। उस काल का समाज पारिवारिक संगठन के रूप में तथा व्यक्तिश: विकास की दृष्टि से इतना क्षम हो गया था कि उसने आगामी सहस्त्र वर्षों तक न टूटने वाले सामाजिक संरचना को जन्म दे दिया था। परिवार के संयुक्त स्वरूप के आदर्श संरचना का जो स्वरूप ऋग्वेद के विवाह सूक्त में मिलता है वह समाज की सबसे छोटी किन्तु दृढ़ इकाई बनीं। लोक में उस इकाई के कारण एक अजर सामाजिक ढाँचे ने विकास किया था। आज उस इकाई में वाह्य आक्रमणों एवं उपनिवेशों के प्रभाव ने कुछ विकृतियाँ उत्पन्न की हैं जिनके कारण परिवार इकाई का संयुक्त स्वरूप नागर सभ्यता में शिथिल हो रहा है। इस इकाई में शैथिल्य के कारण व्यक्ति के मूल संस्कार बिगड़ रहे हैं जिन्हें वह प्राचीन परिवार में नैतिक मूल्यों की सहज शिक्षा से प्राप्त करता था। परिवार का ढांचा समाज को उसी प्रकार स्वरूप प्रदान करता है, जिस प्रकार हरे-भरे वनस्पतियों का समूह एक अच्छा वन कहा जाता है। उजड़े हुए वृक्ष वन की संकल्पना नहीं देते हैं।

भारत के इतिहास ने भारतीय समाज निर्माण एवं विकास की एक पूर्व पीठिका बना रखी है जिसका दर्शन हम वेदों में कर सकते हैं एवं उससे प्रेरणा ले सकते हैं तथा मध्यकाल में आई सामाजिक विकृतियों तथा आधुनिक विश्व के साथ अपने विकास की प्रक्रिया निर्धारित कर सकते हैं।

ऋग्वेद के ऋषियों को समाज के विकसित होने के लिए जितने गुणों एवं आचरणों की अपेक्षा शाश्वत् रूप से होती है उन सबका ज्ञान हो चुका था इसमें सन्देह नहीं है। यही कारण था कि सभी मनुष्यों के लिए इस काल में अनिवार्य शिक्षा का उपदेश दिया गया है। इतना ही नहीं शिक्षा को पूरी तौर पर सम्प्रदाय निरपेक्ष बनाने के लिए उसे राजसत्ता से सर्वथा अलग करके रखा गया था। तथा सभी शिक्षार्थी निश्चिन्त

एवं समभाव से वनों में अध्ययन करते थे। शिक्षण के स्तर पर अनुभूत समानता एक प्रकार का विवेकजागृत करती थी एवं समाज में भी उस समभाव का प्रभाव होता था। यही कारण था कि वैदिक युग की शिक्षा ने सबको सभी विषय के चिन्तन के लिए समान अधिकार दे रखा था। जिसके फलस्वरूप परवर्त्तीकाल में अनेक प्रकार के दर्शन, राजनीति, शिल्प, नाट्य, काम, चिकित्सा, आदि शास्त्रों ने जन्म लिया एवं उनके अनेकानेक भेदों उपभेदों ने अपना पल्लवन किया। शिक्षा का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि गुरुकुलों में केवल वेद की संहिताओं को रटाने का ही कार्य नहीं होता था अपितु अनेक प्रकार के तकनीकी ज्ञान भी दिए जाते थे। जिनका उपयोग समाज के सामूहिक विकास के लिए होता था।

जो वर्ग मजदूर की योग्यता रखता था। वह संहिताओं की शिक्षा न लेकर शिल्प विधाओं की शिक्षा प्राप्त करता था। ऐसे अनेकों शिल्प विशेषज्ञों के विषय में हमने अध्ययन किया है जो युद्ध, यज्ञ, एवं जीवन के लिए उपयोगी अनेकों वस्तुओं, अलंकारो को बनाने में दक्ष थे। शिक्षा की इस सरणि ने सम्भवत: अवान्तरकाल में जाति व्यवस्था को जन्म दिया। जो व्यक्ति परम्परागत रूप से जिस कला या कर्म में निष्णात था उसे उसके कार्य परम्परा की जाति से सम्बोधित किया गया।

समाज के सुगठित स्वरूप ने व्यक्ति के स्वतन्त्र चिन्तन के बल पर विकास किया एवं उसके अनुशासन ने निर्देश दिया कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत उपलब्धियों को सीधे समाज तक पहुँचा सकता था। इसके लिये आयुबद्ध व्यवस्था थी जिससे सभी को समान अवसर प्राप्त हो सके। इस आयुबद्ध व्यवस्था को आश्रम व्यवस्था कहा जाता है। जो बौद्धकाल में भी बाधित नहीं हुआ तथा उत्तरमध्य काल तक समाज में चलता रहा। आयुर्वेद के अनुसार जो काल, मस्तिष्क में धारण करने एवं सीखने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त था उसे ब्रह्मचर्य नाम देकर उस पूरे काल में विविध शास्त्रों एवं लौकिक विद्याओं का अध्ययन कराया जाता था। इसके बाद विवाह एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का काल पचास वर्ष की आयु तक निश्चित किया गया था। तदनन्तर अपना उत्तरदायित्व अपने उत्तराधिकारी को सिखाते हुये शनैः शनैः पचहत्तर वर्ष की उम्र तक सामाजिक सम्बन्धों से विरत होकर आत्म लाभ के लिये ईश्वर चिन्तन एवं जगत् कल्याण के लिये पारलौकिक उपायों पर शोध का काल मृत्यु पर्यन्त चलता था। कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार के अनुशासित जीवन शैली वाला समाज कितना उदात्त रहा होगा। आज उन सभी चीजों की प्रासंगिकता है किन्तु आज के परिस्थितयों के अनुकूल उसकी रचना होनी चाहिए। प्राचीन भारत में बदलती सामाजिक आवश्यकताओं को अपेक्षित नहीं किया गया था अपितु अपनी व्यवस्थाओं

को उसके अनुरूप बनाते हुये यथोचित व्यवस्था दी जाती रही किन्तु बिना अपने मौलिक मूल्यों से हटे जैसा कि हम परवर्ती काल की स्मृतियों की व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुये समझ सकते हैं ।

हमने देखा है कि जिस प्रकार समाज एवं व्यक्ति की शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व, समाज का त्यागी, तपस्वी, निर्लोभ, सत्ता निरपेक्ष बौद्धिक वर्ग अपने धर्म के रूप में वहन करता था उसी प्रकार राज्य सत्ता की उच्छृंखलता पर भी अंकुश लगाने का कार्य एवं आर्येत्तर वर्ग में आर्य धर्म के सनातन तत्त्वों के प्रसार, उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप करने का दायित्व भी वही वर्ग वहन करता था। जिसके परिणामस्वरूप राजा को धर्म पथ पर प्रवर्तित करने के लिये विद्वान् पुरोहित उसका प्रधानमंत्रित्व करता था। बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण जब क्षत्रियेतद् अर्थात् शूद्र एवं ब्राह्मण ने भी राज सत्ता संभाला था तब भी उन पर नैतिक अंकुश रखने के लिये पुरोहित के मंत्रित्व की प्राचीन परम्परा नहीं टूटी थी । जैसे नन्द वंश के लिये राक्षस का मंत्रित्व एवं ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग के लिए पतञ्जलि का पौरोहित्य । इस प्रकार वैदिक धर्म को बौद्धिक उत्कर्ष में सनातन मूल्य की (धर्म धारण करने योग्य या पालन करने योग्य) संज्ञा देते हुये राजनीति एवं समाज दोनों पक्षों में गहरायी तक स्थापित कर दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक लाभों के लिये होने वाले असंख्य युद्धों के बावजूद सांस्कृतिक रूप से समाज एक रहा । सभी राज्य के लोग सभी राज्यों में निर्भीक होकर जाते थे । जिससे सम्पूर्ण भारत का आर्थिक विनिमय का तन्त्र कभी भी नहीं बिगड़ा था । किसी भी राज्य के किसी विधा या तकनीकी विशेषज्ञ को सम्पूर्ण भारत में एक सा सम्मान मिलता था । राजा से भी एवं प्रजा से भी।

आरम्भ से ही ऋषियों ने यह विचार करना नहीं त्यागा था कि आखिर इस निर्मिति का हेतु क्या है तथा इसके निर्माण के घटक या अवयव कौन से हैं । ऋग्वेद का नासदीय, पुरुष, अस्यवामीय आदि सूक्त इसे तथ्यत: प्रमाणित करते हैं कि ऋषियों ने इस विश्व निर्माण के दो घटक माने । एक अहं तत्त्व, दूसरा इदं तत्त्व । इसी को हम चेतन एवं प्रकृति भी कह सकते हैं किन्तु ऋग्वेद के ऋषियों को जिन तत्त्वों का साक्षात्कार मन्त्रों के रूप में हुआ उससे ऐसा परिलक्षित होता है कि इदं या प्रकृति के रूप में जिसे उन्होंने देखा था उसमें भी वे एक अन्तर्निहित चेतन को देखते थे । इसी चेतन को प्रकृति के उस भाग विशेष में परिव्याप्त नियम को सुनिश्चित करने वाला देवता मानते थे । अध्ययनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुत: वैदिक चिन्तन में वाह्य रूप से देवताओं के बहुत्व को स्वीकार करते हुये ऋषिगण इन सभी को एक विराट् पुरुष का अभिव्यञ्जन मानते थे जो कि पुरुष सूक्त का सर्वव्यापी पुरुष एवं नासदीय

सूक्त का अनिर्ज्ञात, अकल्पनीय स्वरूप वाला तत्त्व था। इस चिन्तन के अनेक आयाम पश्चात् कालीन दर्शनों में व्याख्यायित हुये हैं। समाज को भी इस चिन्तन का लाभ मिला था। वह यह था कि सभी एक चेतना की अभिव्यक्तियाँ है जो जिस कार्य के लिये नियुक्त हो उसकी महत्ता उसी कार्य के निर्वहण में है। वह प्रकृति के विभागों की भाँति अपने मर्यादा को यदि नहीं त्यागते हुये, अनुशासित रहे तो प्रकृति की भाँति, समाज भी स्वस्थ एवं सन्तुलित रहता है। इस सनातन विचार को हम आज भूल सा रहे हैं। परिणामत: अपने कार्यों की मर्यादाओं को तोड़ने के साथ-साथ प्रकृति की मर्यादाओं को प्रवाहित करते हुये सर्वनाश को आमन्त्रित कर रहे हैं।

हम यदि वर्तमान सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में यदि ऋग्वेद का ही गहन अध्ययन करें तो आज भी भारत का यह ज्ञान भण्डार विश्व व्यवस्था को सुनियन्त्रित करने की सर्वाङ्गीण प्रेरणा देने में पूर्ण रुप क्षम है, चौद्धिक तर्क के स्तर पर भी एवं व्यवहारिक तर्क के स्तर पर भी।

* * *

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल-ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद संहिता — सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जि० बलसाड), शक १९६५.

अथर्ववेद संहिता — सायणाचार्यकृतभाष्य सहित, सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, होशियारपुर, १९६१.

अमरकोष — अमरसिंह, श्रीभानुजिदीक्षितकृत रामाश्रमी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८५.

अष्टाध्यायी — पाणिनि, सम्पादक सि० शंकरराम शास्त्री, शारदा पब्लिशिंग् हाउस, दिल्ली, १९९४.

आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र — आपस्तम्ब, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३६.

आश्वलायन-गृह्यसूत्र — आश्वलायन, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३७.

ऋक् प्रातिशाख्य — शौनक, सम्पादक मंगलदेव शास्त्री, इलाहाबाद, १९३७.

ऋग्वेद भाष्य — स्कन्दस्वामी, सम्पादक सी० कुन्हनराजा, मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज- ८, १९३५.

ऋग्वेद व्याख्या — माधव, सम्पादक सी० कुन्हनराजा, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९३९.

ऋग्वेद संहिता — सायणभाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३-१९४५, चार भाग.

ऋग्वेद संहिता — वेंकटमाधव की ऋगर्थदीपिका सहित, सम्पादक डॉ० लक्ष्मणस्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, लाहोर, १९३९-५५, चार भाग.

ऋग्वेद संहिता — सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, होशियारपुर, १९६३-६४, सात भाग.

ऐतरेय आरण्यक — सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १९३७.

ऐतरेय ब्राह्मण	षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रिवेन्द्रम्, १९४२, पुनर्मुद्रण दिल्ली, १९९१, तीन भाग.
ऐतरेय ब्राह्मण	सायणाचार्यकृत वेदार्थभाष्यसहित, सम्पादक डॉ० सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८०, दो भाग
काठक संहिता	सम्पादक फॉन श्रोडर, लाइप्त्सिग, १९००.
काठक संहिता	सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि० बलसाड.
काण्व संहिता	सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, १९४०.
कौषतकि-ब्राह्मण	सम्पादक एच० एम० आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १९११.
गोपथ-ब्राह्मण	सम्पादक राजेन्द्रलालमित्र, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९७२.
छान्दोग्योपनिषद्	सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, गोविन्द-भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०५२.
जैमिनीय-ब्राह्मण	सम्पादक डॉ० रघुवीर एवं लोकेशचन्द्र, नागपुर, १९९४.
तैत्तिरीय आरण्यक	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, १८९८.
तैत्तिरीय संहिता	सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जि० बलसाड), १९४५.
बृहदारण्यकोपनिषद्	सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित, गोविन्द-भवन, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०५२.
बृहद्देवता	शौनक, सम्पादक एवं अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८०
निरुक्तम्	यास्क, टीकाकार छज्जूरामशास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६४.
निरुक्त	यास्क, सम्पादक वैजनाथ काशिनाथ राजवाड़े, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४०.
मनुस्मृति	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१९.

माधवीयाधातुवृत्ति	सायणाचार्य, प्राच्यभारती प्रकाशन, कामच्छा, वाराणसी, १९६४.
यजुर्वेद संहिता	सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि०-बलसाड, वि० सं० २००३.
याज्ञवल्क्यस्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०५.
शुक्लयजुर्वेदसंहिता	उव्वटमहीधरभाष्य सहित, सम्पादक जगदीश-लालशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९४.
षड्विंश ब्राह्मण	सायणभाष्यसहित, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७.
सामवेद संहिता	सम्पादक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि०-बलसाड, वि० सं० २००३.

आधुनिक ग्रन्थ-सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, बनारस, वि० सं० २०१२.

अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.

अग्निहोत्रि, प्रभुदयालु, वैदिक देवता दर्शन, दिल्ली, १९८९.

उपाध्याय, बल्देव, वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७०.

उपाध्याय, बल्देव, आचार्य सायण और माधव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००३.

काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी रूपान्तर), हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९७३.

गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ, १९५६.

ठाकुर, आद्यादत्त, वेदों में भारतीय संस्कृति, लखनऊ, १९६७.

त्रिपाठी, गयाचरण, वैदिक देवता: उद्भव और विकास, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८३, दो भाग.

त्रिपाठी, हरिशंकर, रसा से सदानीरा तक, वेदपीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९०.

त्रिवेदी, रामगोविन्द, हिन्दी ऋग्वेद, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४७.

———वैदिक साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.

नारंग, सत्यपाल, 'सममातर्' ऋग्वेद की एक लुप्त सामाजिक एवं विधि शास्त्रीय संस्था, (डॉ सम्पूर्णानन्द स्मृति ग्रन्थ) सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९४

पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

सिंह, फतेह, वैदिक दर्शन, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सम्वत् २०१९.

भगवद्दत्त, वैदिक साहित्य का इतिहास, दिल्ली, १९७४.

मैक्डॉनल, ए०ए०, वैदिक ग्रामर फार स्टूडेण्ट, हिन्दी अनुवाद डॉ० सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१.

———, वैदिक माइथोलॉजी, हिन्दी अनुवाद डॉ० सूर्यकान्त, भारत भारती लिमिटेड, दिल्ली, १९६२.

———, हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटिरेचर, हिन्दी अनुवाद चारुदेव शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२.

रामगोपाल. वैदिक व्याकरण, नेशनल पब्लिशिंग् हाउस, दिल्ली, १९६९.

रेऊ, विश्वेश्वरनाथ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७६.

विद्यालंकार. 'दीक्षा' डॉ० सरोज, ऐतरेय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के निर्वचन, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, १९८९.

विन्टरनित्स, एम०, प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी रूपान्तर), मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९६१.

वीरसेन, वेदश्रमी, वैदिक सम्पदा, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९६७.

वेलणकर, हरिदामोदर, ऋक्सूक्त वैजयन्ती, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९६५.

शर्मा, गणेशदत्त, ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, विमल प्रकाशन, गाजियाबाद, १९७७.

शर्मा, मुंशीराम, वैदिक संस्कृति और सभ्यता, ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, १९६८.

शास्त्री, पं० देवदत्त, अथर्ववेदीय तन्त्र विज्ञान, विविध भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८५.

श्री अरविन्द, वेद रहस्य, पाण्डिचेरी, १९७१.

शुक्ल, डॉ० सिद्धनाथ, ऋग्वेद चयनिका, भारत मनीषा, वाराणसी, १९७४.

———. वेदमञ्जरी, किसलय प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८४.

———. वेद और अवेस्ता, अनुराग प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८१.

———. अथर्ववेदीय भूमिसूक्त, वागाम्भृणी प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८४.

सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर. ऋग्वेद का सुबोधभाष्य, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, किल्ला (जि० बलसाड), १९८५.

———. भारतीय संस्कृति, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि० बलसाड, १९९८.

सूर्यकान्त, वैदिक धर्म एवं दर्शन, (दि रिलिजन एण्ड फिलॉसफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद् का हिन्दी रूपान्तर), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३.

सांकृत्यायन, राहुल. ऋग्वैदिक आर्य, किताब महल, इलाहाबाद, १९५७.

MODERN WORKS IN ENGLISH

Agrawala, V.S. *Spark from the Vedic Fire*, Varanasi, 1962

———*Thousand Syllabled Speech*, Varanasi, 1968.

———*India As Known to Pāṇini*, University of Lucknow, 1953

Altekar, A.S. *The Position of Women in Hindu Civilization*, Banaras Hindu University, Varanasi, 1936.

Aurobindo, Shri. *Hymns of the Mystic Fire*, Pondicherry, 1952.

Bhawe, S.S. *Some Hymns of Ṛgveda*, Baroda, 1957, Three Volumes.

Das, A.C. *Ṛgvedic Culture*, R. Combrary and Co., Calcutta and Madras, 1925.

———*Ṛgvedic India*, R. Combrary and Co., Calcutta, 1927.

Geldner, K.F. *Der Rgveda*, Harvard Oriental Series, Vol. 33, 34 & 35, Leipzig, 1957.

Gonda, J. *Some Observation on the relation between Godand Power in the Rgveda*, The Hauge, 1957.

Gonda, J. *Epithets in the Rgveda*, Amsterdam, 1959.

———*Vision of the Vedic Poet*, The Haggual, 1963

———*Change and Continuity in Indian Religion*, The Haugle, 1965.

———*Loka in the Veda*, Amsterdam, 1966

———*Use of Partide 'Ca'*, Poona, 1974.

Griffith, R.T.H. *The Hymns of the Ṛgveda*, Banarans, 1963, Two Volumes.

Kaegi, Adolf. *Life in Ancient India*, Translator R. Arrowsmith, Calcutta, 1950.

———*The Rgveda*, Amarco Book Agency, New Delhi, 1932.

Kane, P.V.: *History of Dharmashastra*, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1941, Five Volumes.

Keith, A.B., *The Religion and Philosophy of the Vedas*, London, 1925, Two Volumes.

Macdonell, A.A., *A History of Sanskrit Literature*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1962.

———*Lecture on Comparative Religion*, Calcutta, 1925.

Majumdar, R.C., *An Advanace History of India*, London, 1953.

———*The Vedic Age*, George Allen and Unwin Ltd ., London, 1951.

Maxmüller, Fredrik. *The Vedas*, Calcutta, 1956.

———*India What Can Teach Us*, Longmans Green and Co., Bombay, New York, 1899.

Mitra, Priti, *Life and Society in the Vedic Age*, Calcutta, 1966.

Oldenburg, Harmann, *Vedic Hymns*, Secred Books of the East, Vol. 46, Delhi, 1964.

Peterson, Peter, *Hymns from the Ṛgveda*, Bombay Sanskrit Series, 1938.

Prabhu, P.N., *Hindu Social Organization*, Popular Prakashan, Bombay, 1979.

Ragozin, Z.A., *Vedic India*, T. Fisher Unurin Ltd., London, 1915.

Raja, C. Kanhan, *Some Aspects of Education in Ancient India*, The Adyar Library Series No. 73, The Adyer Library, Madras, 1950.

Renoue, Lui. *Vedic India*, Indological Book House, Delhi, 1971.

Sarup, Lakshamana, *The Nighaṇṭu and The Nirukta*, Motilal Banarsidass, Delhi. 1962.

Shastri, K.N., *New Light on the Indus Civilization*, Vol. I, Delhi, 1965.

Singh, Fateh, *The Vedic Etymology*, Kota (Rajasthan), 1952.

Upadhyaya, B.S., *Woman in Ṛgveda*, New Delhi, 1974.

Verma, Siddheswar. *TheEtymology of Yaska*, V.V.R.I., Hoshiarpur, 1953.

Velankar, H.D., *Ṛgveda Mandala*. II & III, Bombay University Bombay, 1966;68.

* * *

डॉ॰ विजय शङ्कर शुक्ल वैदिक वाङ्मय के अध्येता हैं। आपका जन्म इलाहाबाद जनपद के अन्तर्गत घूरी ग्राम में 15 मार्च 1961 में हुआ है। प्रारम्भिक शिक्षा मध्य प्रदेश के सागर जिले में हुई। बी॰ ए॰ से लेकर डी॰ फिल् तक का अध्ययन इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पूर्ण करने के पश्चात् मई 1991 से इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली से सम्बद्ध हैं तथा सम्प्रति कलाकोश विभाग में अनुसंधान अधिकारी के रूप में कार्य कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त डॉ॰ शुक्ल ने "A critical study of the Sāyaṇa-bhāṣya and other Interpretations of the Ṛgveda" (3.1.to 3.7) नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया है। आपने अनेक गोष्ठियों में अनुसन्धान-पत्र प्रस्तुत किये हैं। अन्य अनुसन्धान कार्यों के साथ ही साथ डॉ॰ शुक्ल 'अवेस्ता व्याकरण' नामक ग्रन्थ पर कार्य कर रहे हैं। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त ग्रन्थ-सम्पादन, ज्योतिषशास्त्र तथा पाण्डुलिपि-विज्ञान में भी डॉ॰ शुक्ल की विशेष अभिरुचि है।

ISBN : 81-85616-74-4